जनवरी–जून 2021

संभव

हिंदी पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग, रामलाल आनंद महाविद्यालय

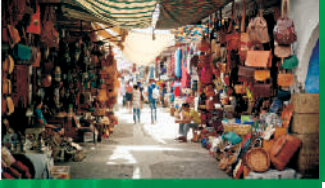

बाजार

- जुनैद कादरी

चारों तरफ भीड़ पसरी है
गाड़ियों के हॉर्न से ज्यादा आवाजें
लोगों की सुनाई देती हैं
मानो सब एक स्वर में शिकायत
कर रहे हों एक दूसरे से
हर तरफ चमचमाते बल्ब जगमग कर रहे हैं
ठीक वैसे जैसे दिवाली के एक दिन पहले
कोई बाजार सजता हो
वहीं इसी असंख्य भीड़ में चौराहे के बीचो बीच
खड़े हैं कुछ लोग
जिनमें कोई स्त्री है
तो कोई कच्ची उम्र का
पक्का बच्चा
ये इस भीड़ से भिन्न दिखाई देते हैं
बहुत भिन्न शायद इसीलिए
क्योंकि उनके हाथ में दसियों गुब्बारे
आसमान की तरफ मुंह फेरे खड़े हैं
आश्चर्य नहीं होता है देखकर कि
एक बच्चा दूसरे बच्चे को वह गुब्बारे बेच रहा है
या बेच रहा है वह एक प्रतीक अपने बचपने का
होकर अंजान इस दुनिया से
और वह औरत जो चुपचाप
बाजार के बीच खड़ी है
जुटा रही है दिवाली पूजन के लिए रुपये
जहर बेचकर यानी चूहे मारने की
दवा बेचकर
खैर यही तो है बाजार
जहां रोज सैकड़ों की भीड़ को देखकर
कुछ उम्मीदें जन्म लेती हैं
और जैसे-जैसे चमकती है बाजार की जगमगाहट
वैसे वैसे ग्रहण लग जाता है
उन उम्मीदों को जो शाम पांच से रात बारह बजे तक
खड़े रहते हैं चौराहे के बीचो-बीच
और दिखाई देते हैं सबसे भिन्न
बहुत भिन्न
क्योंकि वह खरीदार नहीं होते हैं
वह होते हैं 'सौदागर'।

अनुक्रमणिका

संपादकीय

दोस्त पुस्तकें	राकेश कुमार	1

पुस्तक संस्कृति

दिल्ली विवि : काश, यहां एक किताबों की दुकान होती!	चेतना काला	2
इग्नू और अम्बेडकर विवि : दूर-दूर तक नहीं दिखते बुक स्टॉल	आरती	5
जामिया विवि : किताबें खरीदने के लिए बाहर भटकना पड़ेगा	गीतू कत्याल	7
जेएनयू में साकार हो रही पुस्तक संस्कृति	रक्षा रावत	9
दरियागंज रविवारीय पुस्तक बाजार में आपका स्वागत है...	श्रुति गोयल	11
संजनाजी ने कहा, मेरी मौत भी हो तो किताबों के बीच	धनंजय कुमार	13
किताबों के कुंभ का वर्चुअल मोड	आरती	14
लॉकडाउन : पाठकों को पीड़ा मिली तो नया अनुभव भी	वसुंधरा	15
गोदान : किसान जीवन की पड़ताल	मनोज सिंह थायत	17
महाभोज : राजनीतिक विकृतियों का पर्दाफाश	सुधीर जांगिड़	18

कहानी

बुद्धि भ्रष्ट, जीवन नष्ट	श्रुति गोयल	19
मुझे धर्म समझा गया, इंसान नहीं	पायल कुमारी	22
जूनिया	कृष्णा	23

लेख

कोरोना काल ने कुम्हारों का धंधा मंदा किया	मानसी बिष्ट	25
नए साल को वैक्सीन का तोहफा	प्रियंका पाल	27
लोकतंत्र के लिए घातक है म्यांमार में तख्ता पलट	इमरान	28
अमेरिका में चली बाइडन नीति	समीरा	29

कविता

बाजार	जुनैद कादरी	फ्रंट इनर
किताबें	सफदर हाशमी	बैक पृष्ठ

संभव

वर्ष : 15 अंक : 1

पूर्णांक–18

जनवरी–जून 2021

अप्रैल 2021 में प्रकाशित

संरक्षक मंडल

प्राचार्य

डॉ. राकेश कुमार गुप्ता

प्रभारी

डॉ. सुभाष चन्द्र डबास

संपादक मंडल

संपादक

डॉ. राकेश कुमार

डॉ. अटल तिवारी

छात्र संपादक

धनंजय कुमार

उप-संपादक

श्रुति गोयल, गीतू कत्याल, दीपशिखा

फोटो

चेतना, आरती, गीतू, रक्षा, श्रुति, धनंजय, मनोज, सुधीर, विकास, गौतम सिंह, कल्पना सिंह और इंटरनेट

संपादकीय पता :

हिंदी, हिंदी पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग

रामलाल आनंद महाविद्यालय,

(दिल्ली विश्वविद्यालय)

बेनितो जुआरेज़ मार्ग, नई दिल्ली–110021

दूरभाष: 011–24112557

ईमेल : sambhavrla@gmail.com

स्वामी-प्रकाशक-मुद्रक

डॉ. राकेश कुमार गुप्ता

द्वारा बेनितो जुआरेज मार्ग

नई दिल्ली–110021 से प्रकाशित

और **यशस्वी प्रिंटर्स,** जी–2/122,

द्वितीय तल, सेक्टर–16, दिल्ली–110089

से मुद्रित

'संभव' में प्रकाशित रचनाओं के विचार लेखकों के अपने हैं, उनसे संपादक मंडल का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।

संपादकीय

दोस्त पुस्तकें

पुस्तकें मानव संस्कृति की उत्कृष्टता और विकास का प्रतीक हैं। मनुष्य ने जब से भाषा के माध्यम से स्वयं को अभिव्यक्त करना सीखा और उन भावों–विचारों को समय के इतिहास में दर्ज करने के लिए लिपि का अविष्कार किया तब से मनुष्य किसी न किसी माध्यम जैसे शिलालेख, पेड़ की छाल, कपड़ा या ताम्रपट पर उन्हें दर्ज करने का काम करता रहा है और काग़ज़ के आने व छापेखाने के आने के बाद तो जैसे इस क्षेत्र में क्रांति ही आ गई। मैं इस दौर को विचारों की मुक्ति के तौर पर देखता हूं। छापेखाने और उनसे निकलने वाली किताबों ने भाषा–भूगोल–जातीयता और राष्ट्रीयता की सीमाओं को तोड़ दिया और दुनिया के एक हिस्से के विचार–भाव–अनुभव, दुनिया के दूसरे हिस्से में पहुंच गए। कुल मिलाकर मैं कहूं तो इस परिघटना को मैं मनुष्यता के अंतर्राष्ट्रीयकरण के तौर पर देखता हूं। जहां एक ओर पुस्तकों ने समाज के हाशिए पर पड़े वर्गों को एकजुट किया वहीं उनके दमन को जायज़ ठहराने वाले विचार भी दुनिया भर में फैल गए। यानी मनुष्य का साथी भी किताबें बनीं तो मनुष्य को धर्म–जाति–सम्प्रदायों में बांटने के लिए भी किताबों का सहारा लिया गया। भारतीय संदर्भों में यदि देखें तो जाति व्यवस्था के ऊपरी पायदान और अंतिम पायदान को तय करने का काम भी किताबों के ज़रिए किया गया। पर यहां यह साफ करता चलूं कि यहां गलती किताबों की नहीं बल्कि उन स्वार्थी ताकतों की थी जो नहीं चाहती थीं कि आमजन मुक्त हो।

यह कहा जाता है कि मनुष्य का सर्वोत्कृष्ट संस्कृति में आता है और यह मानना चाहिए कि किताबों के माध्यम से ही यह संस्कृति समय की धारा में सुरक्षित होती चलती है। पुस्तकें मात्र काग़ज़ पर स्याही से लिखे या छपे चिन्ह मात्र नहीं हैं अपितु वे किसी भी समाज में विचार–विमर्श, चिंतन–मनन और संवाद को बनाने का काम करती हैं। पुस्तकें अपनी संस्कृति का निर्माण करती हैं। यह बात किसी से छिपी हुई नहीं है कि सत्ताएं व्यापक जनता के बीच इसी संस्कृति को समाप्त करने का प्रयास करती हैं और मनुष्य को किसी भी स्थिति में संवाद और विचार की इस संस्कृति को बचाने का प्रयास करना चाहिए। जैसे–जैसे हम नए उत्तर आधुनिक युग में प्रवेश कर रहे हैं वैसे–वैसे सूचना तकनीक और उससे जुड़े यंत्र हमें किताबों से दूर ले जा रहे हैं। तो खतरा मात्र सत्ताओं का ही नहीं यंत्रों का भी है। इसके प्रति हमें सावधान करने और जागरुक करने के लिए सम्भव का यह अंक आपके सामने है। इस अंक से हमें किताबों के होने और उनकी अनुपस्थिति में बनने वाले समाज की एक समझ मिल जाती है। इस अंक में हमने प्रयास किया है कि न केवल विश्वविद्यालय अपितु शहर के अन्य हिस्सों में भी पुस्तक–स्टालों का जायज़ा लिया जाए। चूंकि सम्भव का यह अंक भी कोरोना महामारी के दौर में तैयार किया गया है इसलिए इस भयावह दौर के व्यापक समाज पर पड़े प्रभावों को भी देखने का प्रयास इस अंक में किया गया है। मैं प्रसिद्ध रंगकर्मी सफ़दर हाशमी की एक कविता का अंश आपके साथ साझा कर रहा हूँ जो किताबों के महत्व को बताता है। इस अंक को प्रकाशित करने की अनुमति देने के लिए आदरणीय प्राचार्य प्रो. राकेश कुमार गुप्ता जी का आभार।

किताबें करती हैं बातें/बीते ज़मानों की/दुनिया की इंसानों की/आज की कल की/एक एक पल की/ खुशियों की ग़मों की/फूलों की बमों की/जीत की हार की/प्यार की मार की।

प्रो. राकेश कुमार

संयोजक, हिंदी पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग

दिल्ली विश्वविद्यालय : काश, यहां एक किताबों की दुकान होती!

चेतना काला

मैंने विश्वविद्यालय जाने वाली मेट्रो को कभी इतना खामोश नहीं देखा। इसकी रौनक थी उन विद्यार्थियों में, जो हंसते-बतियाते, पढ़ते-पढ़ाते जाते थे। आज इसमें गिनती के चार यात्री हैं, जिनके सिर अपने मोबाइल फोन की गुलामी में झुके हुए हैं-

ये गुलामी में झुके हुए सिर
जिनकी क्षुधा कभी शांत हुआ करती थी
उन किताबों को पढ़कर
जो आज यहां दिखती नहीं
जो आज यहां बिकती नहीं।

नॉर्थ कैंपस में बहने वाली हवाओं में अपने विद्यार्थियों के लिए वात्सल्य भरा इंतजार था। पर इन्हीं हवाओं में वहां मौजूद छात्रों की लापरवाही भी हिलोरें भर रही थी, जो शायद यह भूल गए हैं कि महामारी की संहार लीला अभी जारी है। खैर, मेरी नजरें थोड़ी अलग खोज में थीं। जहां मेरे आस-पास हर तरफ फेरी वालों की भीड़ थी, कोई झुमके तो कोई रुमाल बेच रहा था...वहां मुझे तलाश थी किसी ऐसी दुकान की जिसके पास मेरी मनभावन किताबें हों। प्रेमचंद के उपन्यास, जॉन कीट्स की कविताएं, हंस पत्रिका और छोटे भाई के लिए चंपक-ऐसी साहित्यिक प्रतियों की खोज मुझे नॉर्थ कैंपस से दूर कमलानगर ले गई। कमलानगर रंगीन कपड़ों का बाजार है। जहां तक नजर जाती है वहां तक रंग ही रंग और उनके मोह में बंधी हुई ग्राहकों की भीड़। कमलानगर में मुझे एक जगह अंग्रेजी के कुछ उपन्यास दिखे, पर प्रेमचंद की रचनाओं को शायद इस बाजार में भी किसी ने बेचने के काबिल नहीं समझा। इसी तरह विश्वविद्यालय के पास पटेल चेस्ट वाली सड़क की खाक छान मारिए तो वहां बड़े पैमाने पर फोटो कॉपी, टाइपिंग, बाइंडिंग, स्टेशनरी के साथ प्रतियोगी परीक्षाओं से संबंधित किताबें और पत्रिकाओं की दुकानें तो खूब मिल जाएंगी, लेकिन साहित्य, समाज विज्ञान संबंधी किताबों की दुकान यहां भी नहीं मिलेगी। मेरे कुछ मित्रों ने कहा कि यहां धूप में काले पड़ने का कोई फायदा नहीं। किताबों के लिए दरियागंज ही जाना पड़ेगा। मैंने सोचा बहुत ही बेकार दिन है। बस यहां से वहां भटकना पड़ रहा है। कितना अच्छा होता अगर कैंपस के अंदर ही किताबें मिल जातीं।

नॉर्थ कैंपस और साहित्यिक किताबों की उपलब्धता

"कैंपस में उपन्यास नहीं मिलते। किताबों के लिए कमलानगर या दरियागंज ही जाना पड़ता था।" हंसराज महाविद्यालय से 2019 में स्पेनिश भाषा की पढ़ाई पूरी कर चुके जुनैद ने बताया कि किस तरह उन्हें साहित्यिक किताबों

के लिए कैंपस से दूर जाना पड़ता था। नॉर्थ कैंपस की दुनिया हमेशा अपने विद्यार्थियों, शिक्षकों, अभिभावकों आदि के साथ चलती रहती है। यहां 24 से 25 हजार विद्यार्थी आते हैं। शिक्षा के इस विशाल संस्थान में, जो एक बड़े क्षेत्र में फैला हुआ है। किसी भी व्यक्ति को अधिकांश जरूरत की चीजें उपलब्ध हो जाती हैं। चाय की दुकान या मीठे पकवान, यहां तक कि मेट्रो स्टेशन के बाहर कपड़े वाले भी चादर बिछाकर बैठे दिख जाते हैं। पर किताब...जो किसी भी विद्यार्थी के जीवन का अभिन्न अंग है उनकी बात आते ही नॉर्थ कैंपस से बाहर जाना पड़ता है। इस विशालकाय कैंपस के आसपास करीब एक दर्जन महाविद्यालय भी हैं। इनमें स्कूल ऑफ ओपन लर्निंग, मिरांडा हाउस कॉलेज, रामजस कॉलेज, सेंट स्टीफन कॉलेज, हिंदू कॉलेज, लेडी इरविन कॉलेज, श्री गुरु तेग बहादुर खालसा कॉलेज, श्रीराम कॉलेज ऑफ कॉमर्स, किरोड़ीमल कॉलेज, दौलत राम कॉलेज, हंसराज कॉलेज, इंद्रप्रस्थ कॉलेज फॉर वूमेन आदि महाविद्यालय शामिल हैं। महाविद्यालयों की कतार के बीच में कुछ दुकानदार किताबों को फुटपाथ पर सजा कर बैठते हैं। इनके पास विभिन्न पाठ्यक्रमों और प्रतियोगिताओं की किताबें, कुंजी और मॉडल जैसी सामग्री की भरमार रहती है, लेकिन साहित्य, समाज विज्ञान आदि विषयों की किताबें नदारद रहती हैं।

पटेल चेस्ट अस्पताल की सड़क पर भी इन किताबों की भरमार है। हालांकि, कोरोना के कारण बाजार सामान्य दिनों से कम फैला था। प्रश्न यह आता है कि यदि किसी पाठक को कोर्स की किताबों से हटकर रानी नागफनी की कहानी पढ़ने की इच्छा हुई तो वह कहां जाएगा/जाएगी? क्या हमारे महाविद्यालयों के अंदर ही एक छोटी-सी किताबों की दुकान को स्थान नहीं मिल सकता? एक समय कपड़ों के बाजार के रूप में प्रसिद्ध कमलानगर में किताबों की दुकानें हुआ करती थीं। फिर वहां से उन दुकानों को बंद करवा दिया गया। आज उनके स्थान पर आपको बड़ी-बड़ी कंपनियों के शोरूम, कैफे या रेस्टोरेंट मिल जाएंगे। साहित्यिक किताबों की दुकान खुलवाने जैसी किसी भी पहल का हमें विश्वविद्यालय कैंपस में कोई जिक्र नहीं मिलता। हां, कुछ पुराने कर्मचारी यह बताते हैं कि लगभग दस साल पहले तक आर्ट फैकेल्टी के आसपास एक किताबों और पत्रिकाओं की बड़ी दुकान हुआ करती थी, जहां नए प्रकाशन के साथ-साथ पुरानी पत्रिकाएं आदि मिलती थीं। कैंपस के साथ-साथ बड़ी संख्या में महाविद्यालयों के विद्यार्थी और शिक्षक अपनी रुचि के अनुसार किताबों और पत्रिकाओं की खरीद-फरोख्त करते थे। बाहरी पाठकों की दिलचस्पी भी उन्हें यहां खींच लाती थी, लेकिन विश्वविद्यालय में जिम्मेदार पदों पर बैठे कुछ लोगों की कारस्तानी ने इस दुकान पर हमेशा के लिए ताला लगवा दिया।

साउथ कैंपस में साहित्य का सत्य

''हमारे तो कोर्स की ही मांग है-साहित्यिक किताबों का अध्ययन। साथ ही मुझे अपना छोटा-सा पुस्तकालय बनाने का शौक है। पर पहली बात तो साउथ कैंपस में किताबों की दुकान दूर-दूर तक नहीं है। दूसरी, यहां आपको सिर्फ 'सत्या' का बर्गर मिल सकता है... खरीदने के लिए दूर-दूर तक किसी ऐसे उपन्यास वाले का अस्तित्व नहीं है जिसके पास मुझे 'राग दरबारी' मिल जाए।" साउथ कैंपस में पढ़ने वाली श्रुति गोयल बताती हैं कि उन्हें उपन्यास और कहानियां पढ़ना कितना पसंद है, पर खरीदना उतना ही मुश्किल।

साउथ कैंपस में भी साहित्यिक किताबों की दास्तां नॉर्थ कैंपस जैसी ही है। वहां तो शायद आपको कुछ एक कुंजी या गाइड आदि मिल भी जाए। पर विश्वविद्यालय के इस दक्षिणी भाग के हालात और ज्यादा खराब हैं। दुर्गाबाई देशमुख साउथ कैंपस पर उतरते ही आपको कुछ निर्माण कार्य देखने के लिए मिलेगा जो न जाने कितने वर्षों से ज्यों का त्यों चल रहा है। यह विद्यार्थी का भाग्य होगा यदि पहले दिन उसका स्वागत बारिश न करे। अन्यथा, आप तैयार रहें पानी में डूबी हुई,

कीचड़ युक्त सड़कों का अनुभव करने के लिए। इस सड़क पर आगे बढ़ते हुए आपको सबसे पहले आत्माराम सनातन धर्म कॉलेज, वेंकटेश्वर कॉलेज, स्प्रिंगडेल्स स्कूल, माउंटेनीरिंग संस्थान, साउथ कैंपस, आर्यभट्ट कॉलेज, रामलाल आनंद महाविद्यालय और मोतीलाल नेहरू महाविद्यालय देखने के लिए मिलेंगे। सड़क के दूसरी तरफ शुरुआत में सत्या निकेतन है। यहां भी आपको सब कुछ मिल सकता है पर किताबों की दुकान नहीं। सोचने वाली बात यह है कि जहां हमारे महाविद्यालयों के परिसर के आस-पास कैफे बनने जैसी योजनाओं को संज्ञान में लिया जाता है, क्या वहां एक छोटी-सी किताबों की दुकान का प्रस्ताव नहीं रखा जा सकता? सत्या निकेतन में धुआं उड़ाते विद्यार्थी हो सकते हैं पर किताबों को पढ़ते हुए नहीं? यदि शिक्षक और अभिभावकों की अध्ययन में रुचि है तो क्या किताबों की दुकान उनके लिए सुविधा और सहूलियत लेकर नहीं आएगी?

विलुप्त होती किताबों की संस्कृति

एक वक्त अधिकांश युवाओं के पास साहित्यिक किताबें हुआ करती थीं। उन्हें पत्रिका पढ़ना, अखबारों में से आवश्यक समाचारों को काटकर संकलित करना और महीने में कम से कम दो उपन्यास खत्म करना पसंद हुआ करता था। प्रौद्योगिकी के विकास के साथ हमने देखा कि किस प्रकार किताबों के पन्ने मोबाइल फोन की स्क्रीन में तबदील हो गए। जो किताबें हमें बाहर बाजारों में उपलब्ध नहीं होती उन्हें हम ऑनलाइन खोज कर पढ़ लेते हैं। इसमें कोई बुराई भी नहीं है। पर ऑनलाइन का प्रचलन किताबों को विस्थापित नहीं कर सकता। पृष्ठों की सुगंध, उनका स्पर्श, मोरपंख की महत्ता को कम आंकने की भूल हम नहीं कर सकते, लेकिन इस बात को भी नकारा नहीं जा सकता कि हमारी पुस्तक संस्कृति धीरे-धीरे हाशिए पर जा रही है। इस संस्कृति को बचाने के लिए कुछ बातों को समझना जरूरी है। आज विद्यार्थियों को कैफे में बैठकर लिखने का, दोस्तों के साथ या अकेले बर्गर खाने का शौक कैसे लगा? जब हमारे कॉलेज से बाहर कदम रखते ही सामने अलग-अलग तरह के कैफे से सजा सत्या निकेतन देखने के लिए मिले तो किसका मन एक बार भी आकर्षित नहीं होगा। कमलानगर बाजार में कदम रखते ही तरह-तरह के कपड़े खरीदने की इच्छा होती है क्योंकि उस पूरे बाजार में हर तरह के, हर दाम पर कपड़े मिल जाते हैं। इन बाजारों या कैफे आदि को कैंपस के अंदर और आस-पास बनाने के पीछे एक मूल उद्देश्य होता है विद्यार्थियों की भीड़ को आकर्षित करके मुनाफा कमाना। हमारी बात पुनः उसी बिंदु पर आती है जहां से सोचना शुरू किया था-जहां कपड़े और खान-पान की दुकानों के लिए इतना स्थान है वहां कुछ स्थान किताबों के लिए भी तो बन सकता है।

विश्वविद्यालय मेट्रो स्टेशन की एक पहल

पुस्तक संस्कृति को बनाए रखने के लिए विश्वविद्यालय मेट्रो स्टेशन में दो किताबों की दुकानें देखने को मिलीं। यहां किसी भी पाठक को हिंदी और अंग्रेजी साहित्य की किताबें मिल सकती हैं। ये दुकानें मेट्रो के सहयोग से राष्ट्रीय पुस्तक न्यास व केन्द्रीय साहित्य अकादमी की तरफ से खोली गई हैं। दो में से एक दुकान थोड़ी छोटी है जबकि बड़ी वाली दुकान में न सिर्फ हिंदी बल्कि अन्य भाषाओं की पुस्तकें भी उपलब्ध हैं। यहां से कोई भी व्यक्ति आसानी से किताब खरीद सकता है। दुकानदारों से बात करने पर पता चलता है कि जब से उन्होंने वहां अपने बुक स्टोर खोले हैं तब से विद्यार्थियों का अच्छा आवागमन रहता है। यदि किसी व्यक्ति को किताब खरीदनी न भी हो तब भी वह एक नजर देखने अंदर आ ही जाता/जाती है। किताबें हमारे मन मस्तिष्क के कपाट खोलती हैं। पाठक की सोच को हर एक पृष्ठ के साथ चुनौती मिलती है और उसके विचारों को विस्तार। अध्ययन हमें दायरों से पार अदृश्य की कल्पना शक्ति प्रदान करता है। वो भी एक जमाना था जब लोग साथ बैठकर कहानियों की चर्चा करते थे। नई पुस्तकों के बाजार में आते ही उन्हें तुरंत पढ़कर सबसे पहले समीक्षा लिखने की होड़ न केवल लोगों की विचरण क्षमता को बढ़ाती थी अपितु पाठकों के मध्य भी एक प्रगाढ़ संबंध बन जाता था। ऐसे में महाविद्यालयों या कैंपस में किताबों की दुकान हमारे वर्तमान से विलुप्त होती पुस्तक संस्कृति को बचाने का अप्रतिम प्रयास बन कर सामने आ सकती है। कल्पना कीजिए एक ऐसी शाम की, जहां कॉलेज खत्म होने के बाद मित्रों की एक टोली कैंपस में चाय लेकर उस किताब की दुकान के बाहर बैठे जहां सेमल के फूल छिटक रहे हों शाख से और चर्चा हो परसाई की।

इग्नू और अम्बेडकर विवि : दूर–दूर तक नहीं दिखते बुक स्टॉल

● **आरती**

विश्वविद्यालय, किताबों के लिए सबसे प्रमुख जगह होनी चाहिए, जहां यह सुविधा हो कि विद्यार्थी अपने पाठ्यक्रम के अतिरिक्त अपनी रुचि के अलग–अलग लेखकों की पुस्तकें खरीद सकें। पुस्तकों के साथ–साथ बुक स्टॉल पत्रिका और अखबारों के मिलने का अच्छा केंद्र होते हैं। इन केंद्रों पर सामाजिक, समकालीन, साहित्यिक, राजनीति केन्द्रित हर छोटी–बड़ी पत्रिका मिलती है। एक दौर में विश्वविद्यालय कैंपस के अंदर और बाहर बुक स्टॉल होते थे। यह स्टॉल विद्यार्थियों के साथ–साथ हर पुस्तक प्रेमी की पसंदीदा जगह होते थे, परंतु आज कैंपस और उसके बाहर बुक स्टॉल नाम मात्र के रह गए हैं या हैं ही नहीं।

इग्नू और अंबेडकर विवि की स्थिति

दिल्ली में दो बड़े विश्वविद्यालय इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय (इग्नू) और अम्बेडकर विश्वविद्यालय में लगभग चार लाख विद्यार्थी पढ़ते हैं। इग्नू के लगभग हजार स्टडी सेंटर हैं। इग्नू भारत में ही नहीं बल्कि विश्व के बड़े विश्वविद्यालयों में गिना जाता है। आश्चर्यजनक बात यह है कि इग्नू के अधिकतर स्टडी सेंटर या उनके आसपास कोई बुक स्टॉल नहीं है। कुछ जगह हैं भी तो उनकी स्थिति बहुत खराब है। इग्नू के मुख्य कैंपस में भी कोई बुक स्टॉल नहीं है, जहां पाठ्यक्रम से इतर किताबें या पत्रिकाएं मिलती हों। कैंपस के बाहर लगभग 10 से 20 मिनट की दूरी पर भी बुक स्टॉल नहीं है। इग्नू जैसी ही हालत अंबेडकर विश्वविद्यालय की है। इसके मुख्य कैंपस के बाहर भी कोई किताबों की दुकान नहीं है।

सवाल यह उठता है कि देश के दो बड़े विश्वविद्यालयों की यह हालत है तो अन्य जगह पर क्या होगी?इन शैक्षिक संस्थानों के बाहर और अंदर बुक स्टॉल क्यों नदारद हैं? अंबेडकर विवि प्रशासन का कहना है कि हमारी किताबें सिर्फ हमारे विद्यार्थियों के लिए हैं। विद्यार्थियों ने कभी ऐसी मांग नहीं की कि उन्हें कैंपस के अंदर अलग से बुक स्टॉल की जरूरत है। विद्यार्थियों के मांग न करने पर क्या कभी प्रशासन ने इस ओर अपना ध्यान केंद्रित किया, प्रशासन का कहना है कि कैंपस के अंदर बुक स्टॉल खोलने के लिए सबसे महत्वपूर्ण योगदान विद्यार्थियों का होता है। जब तक विद्यार्थी हमें लिखित में नहीं देंगे तब तक हम कोई प्रयास नहीं कर सकते। विश्वविद्यालय के अंदर और बाहर पुस्तकालय के अलावा कोई बुक स्टॉल न होने पर विद्यार्थियों का कहना है कि हम लोगों को कभी कैंपस के अंदर या बाहर बुक स्टॉल की जरूरत ही महसूस नहीं हुई। वहीं इग्नू के विद्यार्थियों का कहना है कि कैंपस अन्य स्टडी सेंटर से बहुत दूर पड़ता है तो वहां जाकर बुक खरीदना या बुक्स पढ़ना बहुत कठिन हो जाता है। लेकिन

कुछ गिनती के विद्यार्थियों का यह भी कहना है कि कैंपस के अंदर अगर किताबों और पत्रिकाओं की दुकान संचालित की जाए तो लोग यानी विद्यार्थी धीरे-धीरे जिज्ञासावश वहां जाना शुरू करेंगे फिर वह उनके रुटीन में शामिल हो जाएगा। इस तरह से परिसर में एक अलग तरह की पुस्तक संस्कृति का विकास होगा।

किताबों के लिए कहां जाएं

कुछ विद्यार्थियों और प्रशासन की बातों से लगता है कि उन्हें कैंपस के अंदर बुक स्टॉल की जरूरत नहीं है, लेकिन चंद विद्यार्थियों और पुस्तक प्रेमियों का कहना है कि विश्वविद्यालयों के कैंपस और उनके आसपास की जगह बुक स्टोर होना हमारे लिए सोने पर सुहागा वाली बात होगी। उन्हें पाठ्यक्रम की पुस्तकों के अलावा अन्य कोई पुस्तक और पत्रिका के लिए बहुत दूर जाना पड़ता है। पहले ऐसा नहीं था, एक बुजुर्ग पुस्तक प्रेमी ने बताया कि पहले विश्वविद्यालय के कैंपस में जाते थे तो बुक स्टॉल ही कैंपस की पहचान हुआ करते थे। किताबों से सजा बुक स्टॉल, साथ में चाय वाले की दुकान, कैंपस के अंदर और बाहर पढ़ने लिखने का एक माहौल हुआ करता था। लेकिन धीरे-धीरे बुक स्टॉल खत्म हो गए या कर दिए गए।

क्यों खत्म हो गए बुक स्टॉल

शैक्षिक संस्थानों और उनके आसपास से बुक सेंटरों का गायब होने का मुख्य कारण शिक्षा का गिरता स्तर है। आज युवाओं के बीच शिक्षा का मतलब केवल पाठ्यक्रम रह गया है। पुस्तक प्रेमियों की संख्या धीरे-धीरे कम हो रही है। बुक स्टॉल खत्म होने का दूसरा मुख्य कारण इंटरनेट का अंधाधुंध प्रयोग है। आज का विद्यार्थी और पाठक वर्ग ई-पुस्तकों और ई-पत्रिका को ज्यादा सुविधाजनक मानता है। इस सुविधा का खामियाजा पुस्तक प्रेमियों और उन छोटे-छोटे स्टॉल के मालिकों को उठाना पड़ा, जिनके लिए पुस्तकें सब कुछ हुआ करती हैं। किताबों और बुक स्टॉल के प्रति लोगों की रुचि न होना भी घटते बुक स्टॉलों का एक कारण है। कैंपस का यह सूनापन देश के शिक्षा के स्तर को भी दर्शाता है, साथ ही यह सवाल खड़ा होता है कि भारत के अंदर वास्तविक शिक्षा क्या केवल पाठ्यक्रम पढ़ लेना भर है? आज का युवा वास्तविक शिक्षा से दूर है। केवल पाठ्यक्रम को पढ़कर वह अपने ज्ञान में वृद्धि करता है विकास नहीं। कैंपस के अंदर और बाहर बुक स्टॉल का न होना चिंताजनक है। युवा कैसे उन लेखकों की पुस्तकों से रूबरू हो पाएगा जिसे उसने केवल सुना है। सामाजिक, साहित्यिक, समकालीन विषयों पर छपी पत्रिकाएं किस प्रकार जनता की आवाज बनेंगी, जब जनता खुद अपनी आवाज को पढ़ नहीं पाएगी। इसका नतीजा यह होगा कि लोग अपने हित की बातों को नहीं समझ पाएंगे और कहीं न कहीं समाज के विकास में अपना योगदान देने में चूक जाएंगे। लोगों की इस अनदेखी का नतीजा यह है कि कलम की ताकत कुछ ही लोगों के हाथों में सिमटती जा रही है। सामाजिक, साहित्यिक और समकालीन विषयों पर छपने वाली पत्रिकाओं की पहुंच समाज के बड़े हिस्से तक न होने के कारण इनकी आर्थिक स्थिति बहुत कमजोर होती जा रही है, जो देश, समाज और एक स्वस्थ लोकतंत्र के लिए कहीं से भी उचित नहीं है।

जामिया विवि : किताबें खरीदने के लिए बाहर भटकना पड़ेगा

● **गीतू कत्याल**

एक समय था जब अधिकांश लोगों के बीच घंटों बातें होती थीं। अकसर बातों ही बातों में बहस छिड़ जाती कि प्रेमचंद का उपन्यास 'निर्मला' बेहतर है या जयशंकर प्रसाद का 'इरावती'। हालांकि बेहतर की बात करते-करते काफी समय पहले से साहित्य की बेकदरी शुरू हो गई। इस बेकदरी के कारणों का पता लगाने के लिए एक विश्वविद्यालय का रुख करते हैं। देश के प्रमुख 10 विश्वविद्यालयों में अपना स्थान रखने वाला जामिया मिल्लिया इस्लामिया विश्वविद्यालय 1920 में स्थापित हुआ था। 215 एकड़ में फैले इसके परिसर में वर्तमान में 58 विभाग चल रहे हैं। परंतु प्रश्न यह है कि विश्वविद्यालय के विशाल परिसर या उसके आसपास पुस्तकों को कितना स्थान मिलता है? क्या अन्य विश्वविद्यालयों की तरह यहां भी पुस्तकों की दुकान एक स्मृति मात्र है?

पुस्तकों की बात हो और पुस्तकालय का जिक्र न हो तो कुछ अटपटा सा लगता है। जामिया मिल्लिया विश्वविद्यालय का पुस्तकालय अन्य विश्वविद्यालयों से कुछ अलग है। यहां दो प्रकार के पुस्तकालय संचालित होते हैं। पहले तरह के पुस्तकालय विभागीय स्तर पर संचालित होते हैं, जहां विद्यार्थियों को अपने पाठ्यक्रम से जुड़ी पुस्तकें मिलती हैं। वहीं दूसरा पुस्तकालय डॉ. जाकिर हुसैन पुस्तकालय है, जिसे

सेंटर लाइब्रेरी के नाम से भी जाना जाता है। इस विशालकाय पुस्तकालय को एक दिन में निहार पाना कठिन है। मतलब यह कि इसमें देश विदेश की अनेक भाषाओं से जुड़ी सामग्री भरी पड़ी है।

पुस्तकालय के अलावा यहां प्रेमचंद अभिलेखागार भी है, जिसे प्रेमचंद की रचनाओं के रूप में साहित्य में किए गए उनके योगदान को देखते हुए बनाया गया था। इस अभिलेखागार में प्रेमचंद की उर्दू, हिंदी और विभिन्न भाषाओं में अनुवादित पुस्तकें एवं समाचार पत्रों में उनसे जुड़ी प्रकाशित सामग्री देखने को मिलती है। विश्वविद्यालय में पुस्तक पढ़ने के बहुत साधन हैं, पर पुस्तक खरीदने का विकल्प एक है–जामिया मकतबा। उसकी अपनी सीमाए हैं। वहां केवल प्रतियोगिता आधारित पुस्तकें मिलती हैं। साहित्य और समाज विज्ञान संबंधी किताबों के लिए इस दुकान में जगह नहीं है। सवाल उठता है कि क्या कभी विद्यार्थियों ने इसकी जरूरत महसूस नहीं की? अगर कोई विद्यार्थी इस तरह की किताबें खरीदना चाहे तो वह कहां जाए? जामिया के विद्यार्थी हाशिम ने बताया कि 'परिसर में केवल प्रतियोगिता आधारित पुस्तकें खरीदी जा सकती हैं, लेकिन परिसर से कुछ दूरी पर स्थित जामियानगर में हर तरह की किताबें मिल जाती हैं।'

हम सभी ने अपने बचपन में दादी–नानी से कहानियां सुनी हैं, पर अब जब पाठ्यक्रम से अलग महान लेखकों की रचनाएं पढ़ते हैं तो उसका एक अलग आनंद और प्रभाव होता है। इस तरह की किताबें खरीदने के लिए जामिया मिल्लिया इस्लामिया विश्वविद्यालय में कोई सुविधा नहीं है। पुस्तकालय की सुविधा से इतर अगर कुछ विद्यार्थी अपने निजी संग्रह में किताबों को शामिल करना चाहते हैं तो उन्हें या तो जामियानगर जाना पड़ेगा अथवा दरियागंज आदि दूसरी जगह किताबों की दुकानें खोजनी पड़ेंगी।

सवाल उठता है कि जब परिसर में प्रतियोगिता केन्द्रित किताबें, स्टेशनरी, फोटोकॉपी आदि की दुकानें हो सकती हैं। बड़ी कैंटीन सहित छोटी खानपान की दुकानें हो सकती हैं तो क्या साहित्य, समाज विज्ञान और पत्रिकाओं के लिए एक कोना नहीं हो सकता? जिस तरह जवाहरलाल नेहरू

पुस्तकों के घर के रूप में पुस्तकालय की अपनी महत्ता है, कभी पुस्तकालयों की सीमाएँ और सुविधाएँ उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं होती, जितनी वहाँ उपलब्ध पुस्तकों की गुणवत्ता। रद्दी किताबों से भरे पुस्तकालय को कोई नहीं चाहता, लेकिन अच्छे पुस्तकालयों में भी रद्दी किताबें व्यावसायिकता का अंग बनकर प्रवेश करती हैं। आज पुस्तकों का रूप बदलकर फिल्म, सी.डी. आदि हो रहे हैं। आज का पुस्तकालय भवन की सीमाएँ तोड़कर सूचना संजाल के माध्यम से विश्वव्यापी बनता जा रहा है। साथ ही रद्दी और गुमराह करने वाली किताबें और सामग्री भी इनके माध्यम से पाठकों तक पहुँच रही है। केवल पाठकीय सजगता ही इनके प्रतिरोध का उपाय है।

प्रो. जी. गोपीनाथन

विश्वविद्यालय में समृद्ध पुस्तकालय के साथ किताबों और पत्रिकाओं की आधा दर्जन दुकानें चल सकती हैं तो क्या जामिया जैसे बड़े विश्वविद्यालय में एक भी दुकान नहीं चल सकती? इसका जवाब यह है कि विश्वविद्यालय के जिम्मेदार लोग अगर इस तरह का प्रयास करें और विद्यार्थियों को जागरूक करें तो जामिया के विद्यार्थियों में किताबी संस्कृति में और अधिक इजाफा होगा। साथ ही विद्यार्थियों, शिक्षकों और आसपास के पढ़ाकू लोगों को दरियागंज या दूसरी जगह भटकना नहीं पड़ेगा। काश! इस तरह का प्रयास जिम्मेदार लोग करते तो कितना अच्छा होता।

जेएनयू में साकार हो रही पुस्तक संस्कृति

● **रक्षा रावत**

देश में सर्वश्रेष्ठ विश्वविद्यालयों की सूची में हमेशा ऊपर रहने के साथ-साथ, विश्व भर में अपने शोध और शिक्षण के लिए विशेष पहचान बना चुका जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय आपके भीतर कैसी छवि रखता है? आप सोचेंगे कि इतना प्रतिष्ठित संस्थान होने के बावजूद ये प्रश्न क्यों पूछा गया, क्योंकि पिछले कुछ वर्षों से जेएनयू के ऊपर होने वाली चर्चाएं नारों के शोर से शुरू होती हैं और उसी शोर में खत्म हो जाती हैं। लेकिन एक हजार उन्नीस हेक्टेयर में फैले इसके विशाल कैंपस में नारों के अलावा एक ऐसी चीज है जो किसी और विश्वविद्यालय के कैंपस में विरले ही देखने को मिले। यहां की विशाल लाइब्रेरी को तो आप जानते ही होंगे, लेकिन क्या यह जानते हैं कि इतनी बड़ी लाइब्रेरी होते हुए भी इसके कैंपस में किताबों की करीब आधा दर्जन दुकानें चल रही हैं। किसी और विश्वविद्यालय में लाइब्रेरी के समांतर निजी पुस्तकालय होना कम सुना होगा, लेकिन जेएनयू के लिए यह आम बात है कि विद्यार्थियों के पास दोनों विकल्प मौजूद हैं।

एक विद्यार्थी को किताब सरलता से मिल जाए तो उसे और क्या चाहिए। जेएनयू परिसर में ताप्ती हॉस्टल के पास बुक कार्ट, सेंट्रल लाइब्रेरी के पास पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, जवाहर बुक सेंटर, हेम बुक सेंटर और केसी मार्केट में गीता बुक सेंटर के नाम से चल रही ये किताबों की दुकानें यहां के आठ हजार से अधिक विद्यार्थियों के लिए सिर्फ दुकानें मात्र नहीं हैं। ये प्रेमचंद के उपन्यासों को सहेजे, मंटो को मस्तिष्क में बसाए, रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास को नींव बनाए और हरिशंकर परसाई के व्यंग्य को परोसते हुए कार्ल मार्क्स के सिद्धांत को शिरोधार्य करती हैं। विवि परिसर में किताबों के रूप में इस तरह की थाती को सहेजना क्या इतना आसान है, यदि है तो बाकी विश्वविद्यालयों में ऐसा क्यों नहीं हो जाता? क्यों जेएनयू ही अपने परिसर में पुस्तकों की दुकानों को सहने और सहेजने की क्षमता रखता है? ऐसा नहीं है कि जेएनयू की इस क्षमता का परीक्षण नहीं हुआ। गंगा ढाबा के सामने मौर्या अंकल की पत्रिकाओं की छोटी सी दुकान को करीब तीन साल पहले बंद कर दिया गया। यह दुकान शाम करीब

पांच-छह बजे खुलती और ढलती शाम के साथ-साथ गंगा ढाबे की खुशबू में मस्त हो जाती। इस मस्ती का आनंद लेते हुए रात के 11-12 बजे तक खुली रहती। लेकिन प्रशासन को शायद पत्रिका संस्कृति का यह जमघट रास नहीं आया और विद्यार्थियों के भारी विरोध के बावजूद मौर्या अंकल की दुकान पर हमेशा के लिए ताला लटक गया। इसके बाद नियमों का हवाला देते हुए कुछ और दुकानों को भी बंद कराने की कोशिशें की गईं, लेकिन इस बार विद्यार्थियों के बुलंद नारों और भारी विरोध ने प्रशासन को अपने कदम वापस खींचने को मजबूर कर दिया।

खैर, मौर्या अंकल की दुकान जरूर बंद हो गई, लेकिन केसी मार्केट में पिछले 45 सालों से चल रहे गीता बुक सेंटर की अपनी कहानी है। इस दुकान को 'दादा' ने शुरू किया था। दादा का पुस्तक प्रेम इतना प्रगाढ़ था कि उनकी मौत भी इसी दुकान की कुर्सी पर बैठे-बैठे हुई। आज भी दादा की कुर्सी और टेबल को वैसे ही रखा हुआ है जैसे वे उसे छोड़कर गए थे। दादा की मौत के

बाद यह दुकान उनकी पत्नी के नाम हो गई। इसी दुकान पर काम करने वाले सुनील बताते हैं कि 'यहां दलित साहित्य और लेफ्ट विचारधारा की किताबें ज्यादा बिकती हैं। कार्ल मार्क्स की किताबों की विशेष मांग होती है। इसकी तुलना में साहित्यिक किताबें उतनी नहीं बिकती। यहां वे पत्रिकाएं भी आसानी से मिल जाएंगी जिनके लिए आप दिल्ली के कई इलाकों में भटकते रहेंगे।' सुनील बताते हैं कि 'कोरोना के बाद से व्यापार पर बुरा प्रभाव पड़ा है। पहले की तरह बिक्री नहीं होती। जेएनयू प्रशासन ने 8 महीने के लॉकडाउन में भी दुकान का पूरा किराया जोड़कर लिया है।' यहां भारतीय भाषा केन्द्र में हिंदी विषय में पीएच.डी. कर रहीं कल्पना सिंह बताती हैं कि 'परिसर में स्थित हर किताब की दुकान का अपना महत्व है। हर दुकान की अपनी खासियत है। विद्यार्थियों की जेब को ध्यान में रखते हुए 20–30 रुपए की पुस्तिका/पत्रिका से लेकर हर तरह की किताबें उपलब्ध रहती हैं। विद्यार्थी जरूरत के हिसाब से किताबों की खरीदारी करते हैं और ज्ञान प्राप्त करने के साथ अपना निजी पुस्तकालय समृद्ध करते हैं। इसके अलावा पुस्तकालय का लाभ मिलता ही है।'

जेएनयू में कॉर्पोरेट की एंट्री भी करवाई जा रही है, जिससे छात्रों के अंदर आक्रोश है। हाल ही में यहां अपोलो का क्लिनिक खुला, जिससे विद्यार्थी खासा नाराज हैं। उनकी इसी मुखर संस्कृति ने जेएनयू की पुस्तक संस्कृति को बचाये रखा है। हालांकि अब परिस्थितियां पहले की तरह सरल नहीं हैं। पुस्तकों की दुकानों के संचालन में आने वाली अड़चनें दिन पर दिन बढ़ती जा रही हैं। दुकान का हर साल टेंडर कराना पड़ता है। प्रशासन की नीतियां और नियत दोनों पहले की तरह सामंजस्य वाली नहीं है। बल्कि प्राइवेट और निजी हाथों में सब कुछ सौंपने की दौड़ में इन छोटे लेकिन जरूरी दुकानों को नजरअंदाज किया जाने लगा है। जेएनयू की जो छवि पिछले कुछ समय में गढ़ी गई है उससे इन दुकानदारों को खासी दिक्कत हुई है। यदि विद्यार्थियों का सहयोग इन्हें न मिलता तो शायद इन पर भी मौर्या अंकल की दुकान की तरह ताला लटक जाता।

जेएनयू की अपनी खासियत है। यहां के छात्र कार्ल मार्क्स को पढ़ना ज्यादा पसंद करते हैं। पत्रिकाओं में यहां 'कारवां' की खूब डिमांड है। हिंदी साहित्य में प्रेमचंद, मंटो, परसाई आदि अनेक लेखक विद्यार्थियों की जुबां पर हैं। अंग्रेजी साहित्य और समाज विज्ञान से जुड़ी किताबों की अपनी धाक है। जेएनयू पर ही लिखी गई इतिहासकार राकेश बटब्याल की किताब इस संस्थान की संस्कृति का नायाब नमूना है। विद्यार्थियों के संघर्ष को बयां करती नीलोत्पल मृणाल की 'डार्क हॉर्स' पुस्तक हो या हिंदी, अंग्रेजी सहित कई भाषाओं वाली पत्रिकाओं के लिए यहां के विद्यार्थियों को अपने परिसर की सीमा नहीं लांघनी पड़ती। यदि कोई पुस्तक उपलब्ध नहीं भी है तो इन दुकानों के कर्ता–धर्ता कुछ ही दिनों में उसकी मांग पूरी कर देते हैं। जेएनयू में भारतीय भाषा केन्द्र से परास्नातक कर रहे छात्र सौरभ का कहना है कि 'हम कम से कम इस मामले में सौभाग्यशाली हैं कि हमें बाकी विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों की तरह किताबों के लिए दरियागंज नहीं जाना पड़ता। कोई किताब यदि उपलब्ध नहीं भी है तो कहने पर मंगा दी जाती है।' अरावली की पहाड़ियों पर बसा जेएनयू अपने नारे, विचारधारा और साहित्य के बीच में खड़ा ऐसा लगता है मानों इसने अपने भीतर सब कुछ समाहित कर रखा हो। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि अनेक चुनौतियों के बावजूद अपनी पुस्तक संस्कृति को जेएनयू ने संभाल रखा है। जेएनयू की पुस्तक संस्कृति से अन्य संस्थान भी सीख लें और विद्यार्थियों के हित में परिसर में एक छोटी सी किताबों की दुकान खोलने की पहल करें तो निश्चित रूप से वह पुस्तक संस्कृति में अपना योगदान देंगे।

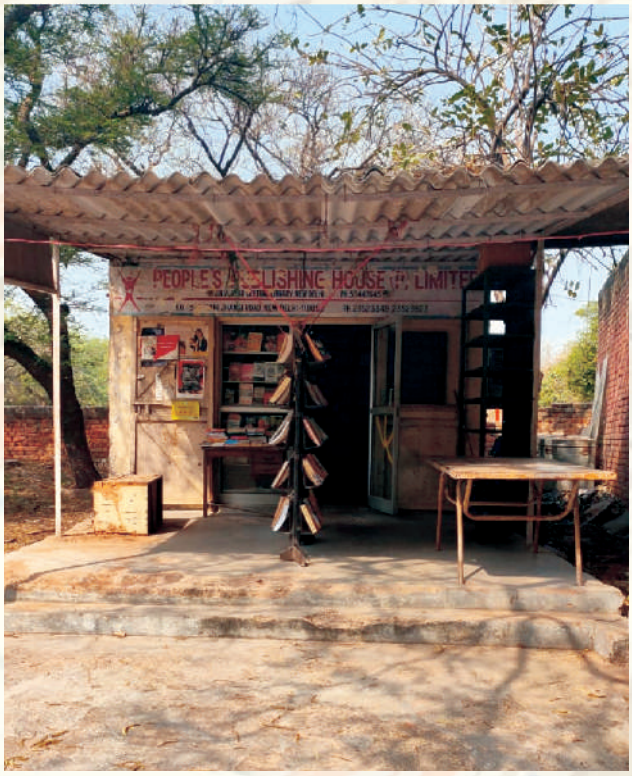

दरियागंज रविवारीय पुस्तक बाजार में आपका स्वागत है...

● **श्रुति गोयल**

दर-ब-दर भटकते और घूमते ज्ञान की तलाश में, ये पुस्तक अनुरागी जिनका जीवन है पुस्तकों के बीच और घर है दरियागंज। यहां नई या पुरानी, बच्चों के लिए, विद्यार्थियों के लिए, बड़ों के लिए साहित्य से लेकर मनोरंजन, शिक्षात्मक, खेल संबंधी सभी प्रकार की पठनीय सामग्री पटरियों पर सजी हुई है या दुकानों में अपनी जगह बनाए हुए है। किताबों से रिश्ता जोड़ना जरा महंगा पड़ता है। हमारे पसंदीदा पठन-पाठन की नई किताबें मानो अपनी ओर खींचती हैं और पाठक उसकी ओर खिंचा चला जाता है जिसका जिम्मा पाठक की जेब उठाती है। लेकिन दरियागंज का रविवारीय पुस्तक बाजार आपको विस्मित कर देगा। 1960 के दशक के बाद दरियागंज कुछ पुरानी कुछ नई किताबों का घर बन गया और इस बाजार को इसकी एक नई पहचान मिली। स्थानीय लोगों के अनुसार दरियागंज एक उपभोक्ता सामान बाजार के रूप में शुरू हुआ, जो कि सुभाष पार्क और कस्तूरबा गांधी अस्पताल के बीच की दीवारों के पास स्थित हुआ करता था। सभी प्रकार के रिकॉर्ड प्लेयर, रेडियो, ट्रांजिस्टर, मेडिकल सामान के बीच आखिरकार किताबों ने भी अपनी जगह बना ली। हालांकि समय के साथ-साथ किताबों की दुकानों वाली जगह को कई बार बदला गया, लेकिन किताबें दरियागंज की गलियों से कभी बाहर नहीं हुई। हर जगह पाठक यह पुस्तक बाजार खोज ही लेता।

कुछ मामूली पुनर्वास के बाद पुस्तक बाजार का विस्तार गोलचा सिनेमा से लेकर दिल्ली गेट तक हुआ। परंतु वर्षों तक एक ही जगह निर्धारित समय से चलता यह बाजार 26 जुलाई 2019 को दिल्ली हाईकोर्ट के आदेश पर बंद कर दिया गया। दरअसल यह फैसला दिल्ली ट्रैफिक पुलिस की उस रिपोर्ट के बाद आया, जिसमें कहा गया था कि पटरी पर लगने वाले इस बाजार से ट्रैफिक संबंधी कई तरह की दिक्कतों से लोगों

को जूझना पड़ रहा है। इस फैसले के बाद ऐसा लगा कि पाठकों से उनका हक छिन गया हो। इसका असर केवल पाठकों ने नहीं बल्कि उन तमाम पुस्तक विक्रेताओं को भी झेलना पड़ा जिनके जीवन का चक्र इस बाजार पर टिका हुआ था। इस बाजार के बंद होने से लगभग 272 पुस्तक विक्रेताओं के सामने रोजगार का संकट खड़ा हो गया। इनमें से कई पुस्तक विक्रेता कई पीढ़ियों से इसी पटरी पर बैठकर अपनी रोजी-रोटी चला रहे थे।

सुभाष चंद्र अग्रवाल नाम के पुस्तक विक्रेता का कहना है कि 'कोर्ट के इस आदेश से हम टूट गए हैं। मैं 72 साल का हूं। दिल का दौरा पड़ने से मेरे बेटे की मौत हो गई। मेरा पोता 19 साल का है। पूरे परिवार की जिम्मेदारी मेरे ऊपर आ गई है। इस उम्र में मैं किस तरह से अपने परिवार का पेट पाल पाऊंगा। कोर्ट को बाजार बंद करने से पहले हमारी तकलीफों के बारे में सोचना चाहिए था।' वहीं दूसरी ओर अपनी पसंदीदा पुस्तकों को खोजने पहुंची रश्मि बनारस की रहने वाली हैं, जो बताती हैं कि बचपन में उनके पिताजी उन्हें यहां लाया करते थे और अपने कॉलेज के दिनों में भी वह यहीं से अपनी शिक्षात्मक एवं अपनी रुचि की किताबें खरीदा करती थीं। परंतु आज इस बाजार को मौन देख कर उनके बचपन की स्मृतियां धुंधली हुई हैं। उनका कहना है कि 'मैं पुस्तकों के बीच ही पली बढ़ी, हर तरह के साहित्य में मेरी रुचि बनी और जब इस बाजार में आती थी तो समझ नहीं पाती थी कि क्या खरीदूं, कितना खरीदूं। सभी कुछ अपना लगता था और यही अनुभव मैं अपनी बेटी को भी कराना चाहती थी। लेकिन इस पुस्तक बाजार का बंद होना मेरे उन सभी स्वप्नों का बिखर जाना है।' इसके अतिरिक्त कितने ही विद्यार्थी अपने स्कूल और कॉलेज की पठनीय सामग्री ढूंढने के लिए दरियागंज का ही रास्ता देखते थे। लेकिन बाजार बंद हो जाने से सामग्री को ढूंढ पाना उनके लिए कठिन हो गया है। पहले जहां कभी किताबों का एक ठिकाना था। अब वही किताबें उन्हें लाइब्रेरी, बुक स्टॉल या जगह-जगह की दुकानों में ढूंढनी पड़ती हैं।

पुस्तक विक्रेताओं के विरोध प्रदर्शन के पश्चात एवं पाठकों की उत्सुकता और परेशानियों को देखते हुए आखिरकार रविवारीय पुस्तक बाजार को एक नया घर मिला। इस बाजार को चांदनी चौक में ब्रॉडवे होटल के सामने महिला हाट में जगह दी गई। जगह मिल जाने के बाद बाजार को पुनः जीवन मिला परंतु आए दिन इसे नई परेशानियों का सामना करना ही पड़ता है। पिछले कुछ हफ्तों से यह बाजार वैश्विक महामारी के चलते बंद रहा और अब भी अनियमित रूप से ही इसे चलाया जाता है। रविवारीय पुस्तक बाजार पटरी वेलफेयर एसोसिएशन के अधयक्ष कमर सईद बताते हैं कि 'पिछले कई दिनों से बाजार अनियमित रूप से खोला जाता है। इतना ही नहीं केवल रविवार के दिन ही हमें अनुमति दी जाती है और वो भी सुबह 9 बजे से लेकर शाम को 5 बजे तक। कई बार बाजार 3 बजे खोला जाता है और शाम 7 बजे तक बंद कर दिया जाता है। ऐसे में जितने लोग सुबह किताबें खरीदने आते हैं वह बाजार बंद समझ कर लौट जाते हैं।' वैसे पाठकों के लगाव के कारण कई बार जगह बदलने के बावजूद रविवारीय पुस्तक बाजार का सफर जारी है। इस सफर में सभी के लिए जगह है। पैसे से जेब भरी है उनके लिए भी और जेब में कम पैसे हैं, उनके लिए भी तो इंतजार किस बात का, आपका दरियागंज के रविवारीय पुस्तक बाजार में स्वागत है।

संजना जी ने कहा, मेरी मौत भी हो तो किताबों के बीच

● **धनंजय कुमार**

यदि किसी महिला का पति पत्रकार, बेटा डॉक्टर, बेटी सब-इंस्पेक्टर और दामाद आईएएस हो तो वह महिला फुटपाथ पर किताबों की दुकान लगाकर क्यों बैठ जाती है? यह प्रश्न सुनने में अजीब लग सकता है, लेकिन राजधानी दिल्ली के एक पॉश इलाके मंडी हाउस का फुटपाथ हर रोज इसका गवाह बनता है। मंडी हाउस स्थित श्रीराम सेंटर के ठीक सामने से जब भी कोई साहित्य प्रेमी गुजरता है तो संजना तिवारी की सजाई किताबों की रौनक उसके कदम थाम देती है। फुटपाथ पर लगने वाली इस किताबों की दुकान में सिर्फ किताबें ही नहीं बिकतीं बल्कि उन तमाम लोगों के सपने भी बिकते हैं जिनको नींद साहित्य की चादर में आती है।

संजना तिवारी की उम्र अभी 47 वर्ष है और उनका किताबों के साथ का यह सिलसिला पिछले 24 वर्षों से जारी है। रोज सुबह 11 बजे से शाम 8 बजे तक यह स्थान पाठकों से गुलजार रहता है। महिला होना कभी संजनाजी के हौसले और साहित्य प्रेम के मार्ग में बाधक नहीं बना। वह अकेले ही रोज सुबह 9 बजे लगभग पांच सौ किताबें स्कूटी पर लादकर करावल नगर से मंडी हाउस के लिए निकल पड़ती हैं। उनकी बचपन की परिस्थितियां इतनी बेहतर नहीं रही, लेकिन शिक्षा के लिए समर्पण ने हर परिस्थिति से लड़ने का साहस दिया। संजना तिवारी 23 वर्ष की थीं जब उन्होंने श्रीराम सेन्टर फॉर परफॉर्मिंग आर्ट्स की इमारत के भीतर किताबों की दुकान लगाना शुरू किया था। लेकिन वर्ष 2013 में अचानक इसे वाणिज्यिक गतिविधि बताकर दुकान को बाहर कर दिया गया। 15 अगस्त 2013 से संजनाजी उसी इमारत के बाहर फुटपाथ पर किताबों का गुलदस्ता सजा रही हैं। उनकी और उनके बच्चों की उच्च शिक्षा लगभग साथ ही हुई। सीवान के केशव बालिका विद्यालय से 10वीं, नालंदा विश्वविद्यालय से 12वीं और इंदिरा गांधी मुक्त विश्वविद्यालय से स्नातक की डिग्री प्राप्त की।

फिल्म निर्देशक अरविंद गौड़ के साथ हुई एक मुलाकात ने संजना को किताबों के इतना पास ला दिया कि उनका सूर्योदय और सूर्यास्त किताबों के साथ ही होने लगा। इसी मुलाकात के बाद संजना ने किताबें बेचने का सिलसिला शुरू किया। यह दुकान आपको छोटी लग सकती है, लेकिन मंगलेश डबराल, राजीव रंजन, अरविंद गौड़ सहित न जाने कितने बड़े-बड़े नाम यहां आते रहे हैं। आज भी आ रहे हैं। संजनाजी का यह अनूठा व्यवसाय देखने में लग सकता है कि वह तो फुटपाथ पर कुछ सौ किताबें लेकर बैठती हैं, लेकिन असल बात यह है कि वह मांग होने पर भारत के किसी भी कोने में यहीं से किताबें पहुंचा देती हैं। कई नगरों, महानगरों से पाठक किताब मंगवाने के लिए संजनाजी को फोन करते हैं। इस काम में न तो उन्हें किसी सरकारी संस्था से कोई सहयोग मिला है न ही किसी स्वयं सेवी संस्था से। सहयोग के नाम पर केवल श्रीराम सेन्टर के रंगकर्मी हैं। यही रंगकर्मी दुकान लगाने से लेकर किताबें भेजने तक में उनकी मदद करते हैं। संजनाजी सभी रंगकर्मियों को अपना पुत्र/पुत्री मानती हैं। बरसात के दिनों में इन्हीं रंगकर्मियों की गाड़ियों में किताबें रखकर भीगने से बचाती हैं।

शुरुआती दिनों में पुलिसकर्मियों ने इनकी दुकान को हटाने की भरपूर कोशिश की, लेकिन संजनाजी के इरादे उनकी कोशिशों से ज्यादा मजबूत साबित हुए। इस छोटी सी दिखने वाली दुकान में हिंदी साहित्य की वो किताबें भी आसानी से मिल जाती हैं जो एक पल के लिए दरियागंज में भी मिलनी मुश्किल हों और यदि नहीं मिलती तो बस एक बार बता दीजिये, अगली बार वह किताब आपके हाथ में होगी।

संजनाजी पिछले तीन वर्षों से प्रकाशन का काम भी करने लगी हैं। इस दौरान वह 23 किताबें प्रकाशित कर चुकी हैं। आजकल वो मंडी हाउस पर किताब भी लिख रही हैं। वह कहती हैं मैं आखिरी सांस तक किताबों से जुड़ी रहना चाहती हूं। मेरी मौत भी आए तो किताबों के बीच ही आए। बचपन में हरिवंश राय बच्चन जी की एक कविता सुनी थी, जो आज भी वह फुटपाथ पर गुनगुनाती दिख जाती हैं-

आ रही रवि की सवारी
नव किरण का रथ सजा है
कलि-कुसुम से पथ सजा है
बादलों से अनुचरों ने, स्वर्ग की पोशाक धारी
आ रही रवि की सवारी।

किताबों के कुंभ का वर्चुअल मोड

● आरती

किताबों का महाकुंभ हर साल प्रगति मैदान में सजता है। विश्व पुस्तक मेले की शुरुआत 1972 में हुई थी। पहले विश्व पुस्तक मेले में अपेक्षा के मुताबिक लोगों ने नहीं लिया था। किताबों के इस कुंभ का उद्घाटन तत्कालीन राष्ट्रपति वीवी गिरि ने किया था। नेशनल बुक ट्रस्ट हर साल आईटीपीओ के साथ मिलकर नई दिल्ली में विश्व पुस्तक मेले का आयोजन करता है। यह मेला हुनर पर लेखनी का एक ऐसा तालमेल है जिसमें न केवल देश बल्कि दुनिया के बड़ी संख्या में लोग अपनी लेखनी को प्रचारित प्रसारित करते-कराते हैं। हजारों की संख्या में लोग किताबों के एक अच्छे गुलदस्ते को अपने घर ले जाते हैं। विश्व पुस्तक मेले में हर साल लगभग 13 हजार से 15 हजार तक बुक स्टॉल लगाए जाते हैं। इसी के साथ मेले में नाना प्रकार की कला व पुस्तकों की प्रदर्शनी भी लगाई जाती है। हर वर्ष पुस्तक मेले की एक थीम रखी जाती है जिस पर पूरा पुस्तक मेला चलता है। थीम के अनुसार विशेषकर बच्चों को, युवाओं को उस विषय से जुड़ी हुई जानकारियां दी जाती हैं। मेले में न केवल प्रकाशक बल्कि स्कूल, प्राइवेट सेक्टर, अन्य सरकारी और गैर सरकारी संगठन भाग लेते हैं। 2020 के पुस्तक मेले में बड़ी संख्या में स्टॉल लगे थे।

हर साल जनवरी में आयोजित होने वाले विश्व पुस्तक मेले को 2021 में कोरोना महामारी के कारण फरवरी में वर्चुअल मोड पर आयोजित किया गया। पाठकों को ऐसा लगा कि वे मेले के अंदर ही घूम रहे हैं। इसके लिए वर्चुअल पुस्तक मेले को 3डी तकनीक के द्वारा आयोजित किया गया। हर एक किताब का एक अलग स्टॉल बनाया गया। महामारी के दौरान पुस्तक मेले की तरफ पाठक वर्ग का ध्यान खींचने के लिए नेशनल बुक ट्रस्ट ने तकनीक का सही प्रयोग करते हुए मेले को आकर्षक रूप दिया।

2021 के पुस्तक मेले की खासियत

2021 का पुस्तक मेला 12 फरवरी से 15 फरवरी तक चला। इस मेले की थीम 'नई शिक्षा नीति 2020' थी। वर्चुअल पुस्तक मेले का आकर्षण बच्चों के लिए था। मेले में बच्चों से जुड़ी हुई एक्टिविटीज को प्राथमिकता दी गई। पिछले मेलों की तरह इस मेले में भी देश के साथ विदेशी प्रकाशकों ने हिस्सा लिया। इसी के साथ साथ कई तरह की प्रदर्शनियां भी लगीं। लगभग 700 से 800 सरकारी संगठन व गैर सरकारी संगठनों ने भाग लिया। वर्चुअल मोड में शिक्षा नीति पर कार्यक्रम आयोजित किए गए। विशेषज्ञों को बुलाकर वार्तालाप हुए, जिससे विद्यार्थियों के साथ, शिक्षकों तथा समाज के हर वर्ग को नई शिक्षा नीति के बारे में जानकारी मिली। उनके सवालों का भी जवाब मिला। वर्चुअल मोड में ही सही लेकिन पुस्तकों के इस कुंभ ने कोरोना काल के दौरान समाज को साहित्य की खुशबू से मानसिक शांति देने का काम किया।

2021 के विश्व पुस्तक मेले की कमियां

2021 के विश्व पुस्तक मेले की तुलना जब 2020 या उससे पहले के मेले से किया गया तो लोगों का रुझान वर्चुअल पुस्तक मेले में कम देखने को मिला। 2020 में जहां पहले दिन दर्शकों की संख्या लगभग 1400 से 1600 के बीच पहुंच जाती थी वह इस बार लगभग 1200 से 1300 पर ही सिमट कर रह गई। कोरोना के कारण लोग मानसिक रूप से इतने तनाव में थे कि अधिकांश लोगों को यह भी नहीं पता चला कि वर्चुअल विश्व पुस्तक मेला कब आयोजित हुआ और कब खत्म हो गया। 2021 के मेले में पाठकों की सुरक्षा को देखते हुए पुस्तकों को पीडीएफ और सॉफ्ट कॉपी के माध्यम से ही पाठकों को उपलब्ध कराया गया, जिसके कारण जिन लोगों ने वर्चुअल पुस्तक मेले में भाग लिया उसमें लगभग 23 प्रतिशत लोगों ने पुस्तकों को नहीं खरीदा। महामारी के दौरान विश्व पुस्तक मेला लगने के बावजूद पाठक वर्ग ने गूगल, एमेजॉन जैसी ऑनलाइन शॉपिंग साइट से किताबों को खरीदना ज्यादा पसंद किया।

लॉकडाउन : पाठकों को पीड़ा मिली तो नया अनुभव भी

● **वसुंधरा**

पुस्तकों का हमारे जीवन में क्या महत्व है, इसका उत्तर तो व्यक्तियों के हिसाब से भिन्न-भिन्न होगा, परंतु एक पुस्तक प्रेमी से पुस्तकों का महत्व पूछा जाए तो शायद वह पुस्तक के महत्व की व्याख्या जिंदगी, आत्मा, प्राण जैसे शब्दों से करेगा। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने कहा था कि 'मैं नर्क में भी पुस्तकों का स्वागत करूंगा क्योंकि इनमें वह शक्ति है कि पुस्तकें जहां भी होंगी वह स्थान स्वर्ग बन जाएगा।' गांधीजी ने कहा था कि 'पुराने वस्त्र पहनो और नई किताब पढ़ो, पुस्तक पढ़ने से व्यक्ति जीवन की प्रत्येक कठिनाई तथा विपरीत परिस्थिति में भी अपने आप को सकारात्मकता की ओर ले जाकर स्वयं का मार्गदर्शन कर जीवन को नई दशा और दिशा प्रदान कर सकता है।' कार्लाइल ने लिखा है कि 'जिन घरों में अच्छी किताब नहीं वह जीवित मुर्दों के रहने के कब्रिस्तान हैं।' लॉकडाउन ने हमारी जिंदगी को कई तरीकों से बदला। कुछ अच्छे-बुरे बदलावों को अपनाने पर मजबूर किया। अपनों के करीब लाया तो दुनिया से अलग-थलग ला कर खड़ा कर दिया।

साहित्य समाज का दर्पण है, यह हम सभी ने पढ़ा है। सुना है। प्रतियोगिताओं में लिखा भी है, परंतु इसका असल महत्व कौन समझता है? शायद हम यानी युवा वर्ग, जो शहरी जीवन जीते हैं। गांव से कटे हुए हैं। गांव की मुश्किलों से बिल्कुल अंजान होते हैं, जहां आज आम तौर पर औरतों को दबाया नहीं जाता। हमारी परवरिश जहां मां न करके आया करती है। मां नौकरी करती है। समाज में हक से जीती है। अपनी बात हक से पुरुषों के आगे रखती है। जहां समाज के लिए औरतों का स्थान नीचे नहीं बराबरी का होता है, परंतु जहां आज भी औरतों से संस्कृति के नाम पर उम्मीद की जाती है कि वह मां, बेटी, पत्नी, बहू या बहन के भाव में ढल जाए। वह उसमें ही सिमट के रह जाए। उनकी कहानी को कौन सामने रखता है? ग्रामीण इलाकों की कहानी को कौन जानता है, जवाब है साहित्य? हिंदी साहित्य ने जिस प्रकार दलितों और महिलाओं के संघर्ष को आवाज दी है। शायद उसकी ही वजह से हम आज उनकी पीड़ा को समझ पा रहे हैं।

पुस्तकों का सभी से अलग-अलग नाता होता है। किसी के लिए ज्ञान, किसी के लिए विज्ञान, किसी के लिए कला, किसी के लिए प्रेम की परिभाषा हैं पुस्तकें। परंतु प्रश्न यह है कि लॉकडाउन हमें पुस्तकों के करीब लाया कि उनसे दूर किया?

हजारीबाग के एक पुस्तक व्यापारी के अनुसार लॉकडाउन में करीब 50 से 60 फीसदी तक पुस्तक व्यापार में नुकसान हुआ है। हालांकि कई युवा उपन्यासकार ऐसे भी हैं, जो लेखन सामग्री ऑनलाइन उपलब्ध कराते हैं। उनका कहना है कि लॉकडाउन के दौरान लोगों का रुझान उनकी तरफ बढ़ा है। लॉकडाउन में काफी हद तक पाठकों ने पुस्तकों की नगरी में फिर से कदम रखा। भाग-दौड़ के कारण जिस नगरी से वे निकल चुके थे उसी नगरी में फिर से मिलना-जुलना हुआ। उन पुस्तकों से फिर से वाकिफ हुए जिन्हें भूल चुके थे। कभी द्विवेदी नगरी, कभी अज्ञेय निवास, कभी बच्चन बगीचा, कभी नामवर नगर, कभी दुबे भवन तो कभी प्रेम नगरी। अक्सर उपन्यासों के पन्ने मुड़े रहते हैं, क्योंकि वे पन्ने अक्सर पढ़े जाते हैं। लॉकडाउन ने बाहरी पुस्तकों यानी दुकानों वाली पुस्तकों से 6 फीट की दूरी पर लाकर खड़ा कर दिया। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हमें बाहरी दुनिया से 6 फीट की दूरी बनाए रखने की नसीहत दी गई। ऐसे समय में वह अपनों के करीब लाया। ठीक उसी प्रकार बाहरी पुस्तकों से नाते कटे और अपनी पुस्तकों के करीब हम एक बार फिर आए। जहां

हम उपन्यासों के किरदारों को भुला चुके थे, वहीं उनके किरदारों से एक बार फिर से मुलाकात हुई।

राजकमल प्रकाशन समूह ने मुश्किल भरे दिनों में लेखक को साहित्य प्रेमियों से जोड़ने का प्रयास किया। समूह के प्रबंध निदेशक अशोक माहेश्वरी का कहना है कि 'लॉकडाउन में लोग अपने को अकेला महसूस न करें इसलिए हम व्हाट्सएप के जरिए फ्री में लोगों को पढ़ने की सामग्री उपलब्ध करवाए। लगातार फेसबुक लाइव के जरिए लेखकों और साहित्य प्रेमियों को जोड़ने का प्रयास किया। लाइव में अपने प्रिय लेखक से जुड़ना पुरानी यादों को ताजा कर देता है। इसी के साथ इस विश्वास को मजबूत करता है कि मुश्किल घड़ी में हम एक हैं। हम एक हैं तो मुश्किलें छोटी हो जाती हैं।'

लॉकडाउन में सबसे अधिक नुकसान विद्यार्थियों का ही हुआ। पहले तो पुस्तकों का मिलना मुश्किल हो गया। मिलीं तो बात नहीं बनी। बात बनी तो क्वालिटी नहीं मिली, जो खुद देखकर पसंद करके दुकान से खरीदते हैं। हम विद्यार्थी इंटरनेट पर निर्भर तो पहले से ही थे, परंतु लॉकडाउन ने हमें उस पर पूर्ण रूप से निर्भर कर दिया। दुकानें बंद हो गईं। इंटरनेट चालू हो गया, जो पहले से ही चालू था। जहां पुस्तकों को खरीदने के लिए उनके पैसे उनके पन्ने देखने पड़ते थे वहीं अब उनकी एमबी, उसकी क्वालिटी देखनी पड़ी। पहले जहां किताबों से घर की लाइब्रेरी भरती थी वहीं अब फोन बहुत सारी पीडीएफ से भर गया। जहां महीनों में किताबों की छंटाई कर महत्वपूर्ण किताबों को आगे व कम महत्वपूर्ण किताबों को पीछे लगाने का काम किया, वहीं अब फोन से स्पेस को खाली करना छंटाई में शामिल हो गया। लॉकडाउन में पाठकों ने सहा बहुत, पर मन को समझा लिया। पुरानी पुस्तकें ही सही, अपनी जिज्ञासा को कम नहीं होने दिया। ब्लड सर्कुलेशन, पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण, चींटियों का ऊपर चढ़ना, ठंडे पानी की बूंदे ग्लास के बाहर दिखना, मंगल का सफर, मकर रेखा, कर्क रेखा जो हम पहले ही पढ़ चुके थे उन छोटी क्लास की किताबों को फिर से पढ़ने का मौका दिया। अंडे के छिलके, ईदगाह, संवदिया, खेजड़ी के पेड़ जैसी स्कूल की कहानियों को फिर से मिलाया। 'इब्न बतूता... पहन के जूता' कविता को फिर से गुनगुनाया। लॉकडाउन ने एक तरह से उम्रदराज लोगों को भी ऑनलाइन होना सिखा दिया। नई पुस्तकों से दूर बेशक किया, परंतु पुस्तक प्रेम से दूर नहीं कर पाया।

गोदान : किसान जीवन की पड़ताल

● **मनोज सिंह थायत**

अगर आप किसी कारणवश ग्रामीण जीवन शैली में नहीं रहे और मन में उस असल भारत को करीब से महसूस करने की तमन्ना हो तो आपको 'गोदान' से रूबरू होना चाहिए, क्योंकि यह उपन्यास ग्रामीण जीवन का महाकाव्य है। 'गोदान' हिन्दी का पहला महाकाव्यात्मक उपन्यास है। इसकी महाकाव्यात्मकता का मूल कारण यही है कि इसमें प्रेमचंद ने 1936 के भारत में उपस्थित रही हर सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक समस्याओं को स्थान दिया है। शब्दों के जरिए गुलाम भारत के ग्रामीण जीवन, किसान और जमींदारों का जीवंत वर्णन किया है। कुछ समीक्षक तो यहां तक कहते हैं कि 'गोदान' एक महासागर है जिसमें प्रेमचंद की पूर्ववर्ती कहानियाँ और उपन्यास शामिल हो गए हैं। इसमें प्रतिभा और निर्मला की तरह बेमेल विवाह भी है, कर्मभूमि और वरदान की तरह किसानों के शोषण का चित्रण भी और रंगभूमि में वर्णित महाजनी सभ्यता या पूंजीवाद भी अपने विकराल रूप में उपस्थित है। इसके साथ-साथ पूस की रात और सद्गति जैसी कहानियों में वर्णित समस्याएं भी गोदान के भीतर झांकती हैं।

किसी भी रचना का नामकरण सार्थक तब माना जाता है जब वह मूल प्रतिपाद को पाठक के मन में अंकित कर सके। 'गोदान' शीर्षक की सार्थकता के कई कारण हैं। सर्वप्रथम रचना के केन्द्र में गाय है। गाय वह प्रतीक है जिसके माध्यम से एक साधारण किसान के जीवन की आर्थिक-सामाजिक त्रासदी को व्यक्त किया जा सकता है। किन्तु गाय पर केन्दित होना 'गोदान' की धारणा का पर्यायवाची नहीं है। प्रेमचंद ने इसे गोदान ही क्यों कहा-इसका उत्तर उपन्यास की परणति में खोजा जा सकता है। कहानी के मुख्य पात्र 'होरी' और 'धनिया' हैं जोकि एक किसान दंपत्ति हैं। यह रचना सिर्फ महत्वाकांक्षा पूरी न होने की त्रासदी नहीं है बल्कि दोहरी त्रासदी है। यह दोहरी त्रासदी इसलिए है कि जो व्यक्ति जीवन भर संघर्ष करते हुए एक गाय नहीं खरीद सका। उस व्यक्ति की मौत के बाद भी धर्म, जाति और बिरादरी उसका पीछा नहीं छोड़ती और उसके परिवार से अपेक्षा करती है कि वह गाय का दान करे। यही इस उपन्यास की केन्द्रीय विडम्बना है। किसी उपन्यास का कथानक तब श्रेष्ठ माना जाता है, जब वह पूरी तरह कसा हो और उसमें बिखराव न हो। प्रेमचंद ने 'गोदान' में घटनाओं के बीच संबंध निर्वाह उच्च कोटि का किया है। जिसका प्रमाण है उपन्यास के पहले दो पृष्ठों और अंतिम दो पृष्ठों के बीच गहरा तारगम्य दिखना। उदाहरण के लिए आरम्भ में जिक्र है कि गाय की लालसा मन में बैठी हुई है। होरी के अंतिम कथन में भी यही बात है कि गाय की लालसा मन में ही रह गई। आरम्भ में हीरा कहता है कि 60 की उम्र तक पहुंचने की नौबत न आने पाएगी और अंतिम पृष्ठ पर यही होता है।

'गोदान' एक यथार्थवादी उपन्यास है। उसमें जिस तरह से होरी और अन्य किसानों की जिंदगी के कठोर संघर्ष दिखाए गए हैं। वे पूरी तरह सही प्रतीत होते हैं। प्रेमचंद जी ने अपनी इस रचना में धर्म, मरजाद, बिरादरी, दहेज प्रथा, जातिगत भेदभाव, साम्प्रदायिकता, बेमेल विवाह, संयुक्त परिवार का टूटना, पत्रकारिता का भ्रष्ट हो जाना, बेरोजगारी आदि को दिखाया है। आर्थिक, सामाजिक समस्याओं को 'गोदान' के हर पन्ने पर बिखेरा है। लेखक ने गोदान में इन समस्याओं के समाधान पक्ष को भी उभारा है। उदाहरण के लिए प्रेमचंद जी धनिया और गोबर की विद्रोही चेतना के माध्यम से संकेत देना चाहते हैं कि जब तक किसान शोषण की पहचान कर अपनी आवाज बुलंद नहीं करेगा तब तक उसकी समस्याएं नहीं सुलझेंगी। इसके साथ ही प्रेमचंद दलित समस्या का समाधान सिलिया के परिवार के माध्यम से देना चाहते हैं। संभवत: प्रेमचंद सवर्ण समाज को यह संकेत देना चाहते हैं कि यदि अब भी उन्होंने दलितों को मानवोचित सम्मान नहीं दिया तो उनके पास विद्रोह के अलावा कोई रास्ता नहीं बचेगा। इस प्रकार अन्य समस्याओं के समाधान के संकेतों को प्रेमचंद जी अपने पात्र व कथानक के माध्यम से उभारते हैं। कुल मिलाकर 'गोदान' तत्कालीन भारतीय समाज में एक साधारण किसान के आर्थिक व सामाजिक जीवन को टटोलने के लिए सार्थक रहा है। प्रेमचंद मेरे पसंदीदा लेखक इसलिए हैं क्योंकि वह समस्याओं के साथ समाधानों का भी जिक्र करते हैं। हालांकि गोदान में करीब 86 साल पहले का वर्णन है लेकिन आज के असल भारत की स्थिति भी बहुत बदली नहीं, यही कारण है कि प्रेमचंद आज भी प्रासंगिक हैं।

उपन्यास : गोदान
लेखक : प्रेमचंद
प्रकाशक : लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

महाभोज : राजनीतिक विकृतियों का पर्दाफाश

• सुधीर जांगिड़

मन्नू भंडारी नवलेखन के दौर की प्रसिद्ध रचनाकार रही हैं और मनोवैज्ञानिक विषयों पर लिखने के लिए जानी जाती हैं। 'यही सच है' जैसी कहानियां और 'आपका बंटी' जैसे उपन्यास मनुष्य के अंतर्जगत को टटोलने के लिए सहायक रहे हैं। ऐसे में उनके द्वारा 'महाभोज' जैसा राजनीतिक, सामाजिक विद्रूपताओं पर व्यंग्य करता हुआ उपन्यास लिखा जाना पाठक को अचरज में डाल देता है। इसका कारण स्वयं लेखिका ने महाभोज की प्रस्तावना में लिखा है जो इसकी संवेदना को समझने के लिए अनिवार्य कथन है। वे लिखती हैं कि 'जब घर में आग लगी हो तब सिर्फ अपने अंतर्जगत में बने रहना या उसी का प्रकाशन करना, क्या खुद ही अप्रासंगिक, हास्यास्पद और किसी हद तक अश्लील नहीं लगने लगता?'

महाभोज मूलत: राजनीतिक उपन्यास है, इसलिए इसकी केंद्रीय संवेदना के तौर पर राजनीतिक विकृतियों का पर्दाफाश किया गया है। दा साहब, सुकुल बाबू, लोचन भैया, राव, चौधरी, अप्पा साहब और लखन लसह जैसे राजनीतिक चरित्रों के माध्यम से लेखिका ने उस समय के जटिल राजनीतिक यथार्थ को बखूबी प्रस्तुत किया है। दल-बदल, भ्रष्टाचार, जनता के प्रति संवेदनहीनता, अपराधियों को संरक्षण, नौकरशाही पर अत्यधिक दबाव तथा दिखावे की राजनीति जैसी विद्रूपताएं महाभोज के हर पन्ने पर बिखरी हुई हैं। लोचन भैया, जिनमें अभी भी कुछ आदर्शवाद बाकी है, इस राजनीतिक धक्का-मुक्की के शिकार हुए हैं और अंतत: सोच रहे हैं कि 'क्या इसी क्रांति का सपना देखा था? और क्या इसी टुच्चेपन की सौदेबाजी के लिए मंत्रिमंडल गिराने की बात सोच रहे हैं वे।'

राजनीतिक जीवन की पृष्ठभूमि में लेखिका ने तत्कालीन सामाजिक जीवन की कुरुपताओं को भी विषय वस्तु में शामिल किया है। 1970 का दशक वह समय था जब दबंग जातियों और दलितों के बीच पहली बार अधिकारों का संघर्ष शुरू हुआ था। 1973 का बिलारी कांड स्मृतियों में ताजा था, जब कई दलित व्यक्तियों को दबंगों की भीड़ ने जिंदा जला दिया था। जिस तरह नागार्जुन ने 'हरिजन-गाथा' कविता में उस घटना को पृष्ठभूमि बनाया है, वैसे ही मन्नूजी ने महाभोज की शुरुआत में ही इस बात का संकेत दिया है कि 'महीने भर पहले ही की तो बात है-गांव की सरहद से जरा परे हटकर जो हरिजन बस्ती है वहां कुछ झोपड़ियों में आग लगा दी गई थी आदमियों सहित।'

लेखिका ने उपन्यास में बुद्धिजीवी वर्ग द्वारा अपनी सामाजिक जिम्मेदारियों का निर्वहन समुचित रूप से नहीं करने पर गंभीर आपत्ति जताई है। दत्ता बाबू जैसे पत्रकार कागज का कोटा बढ़वाने के लिए बिक गए हैं तो महेश और अखिलन जैसे शोधार्थी अपने सामने हो रही ज्यादतियों को देखकर भी रिसर्च मैथडोलॉजी के नाम पर तटस्थ बने रहते हैं। बिसू के माध्यम से लेखिका ने ऐसे कर्महीन बुद्धिजीवियों पर गहरी चोट की है-'केवल नाराज ही नहीं लड़ता था, बाकायदा हमसे कि आप जैसे पढ़े-लिखे लोग खाली तमाशबीन ही बनकर बैठे रहोगे तो इन गरीबों की लड़ाई कौन लड़ेगा।'

रोचक बात यह है कि लेखिका ने इन समस्याओं के प्रति समाधान पक्ष का संकेत भी प्रस्तुत किया है। उपन्यास के अंत में मिस्टर सक्सेना के व्यक्तित्व में बदलाव इस बात का संकेत है कि समाज को बदलने की क्रांतिकारी चेतना सिर्फ बिसू की हत्या और लबदा की गिरफ्तारी से समाप्त नहीं होती। लेखिका के ही शब्दों में कहें तो यह वह खतरनाक लपकती अग्नि लीक है जो बिसू और लबदा तक ही नहीं रुकी रहती।

स्पष्ट है कि 1970 के दशक के राजनीतिक यथार्थ का कोई भी कोना लेखिका की नजरों से ओझल नहीं हुआ है, क्योंकि महाभोज में व्यक्ति यथार्थ समय के साथ और गहरा विद्रूप ही हुआ है। इसलिए पाठक को महाभोज पढ़कर अपने समय की राजनीतिक सच्चाई भी साफ दिखाई पड़ती है।

उपन्यास : महाभोज
लेखिका : मन्नू भंडारी
प्रकाशक : राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली

बुद्धि भ्रष्ट, जीवन नष्ट

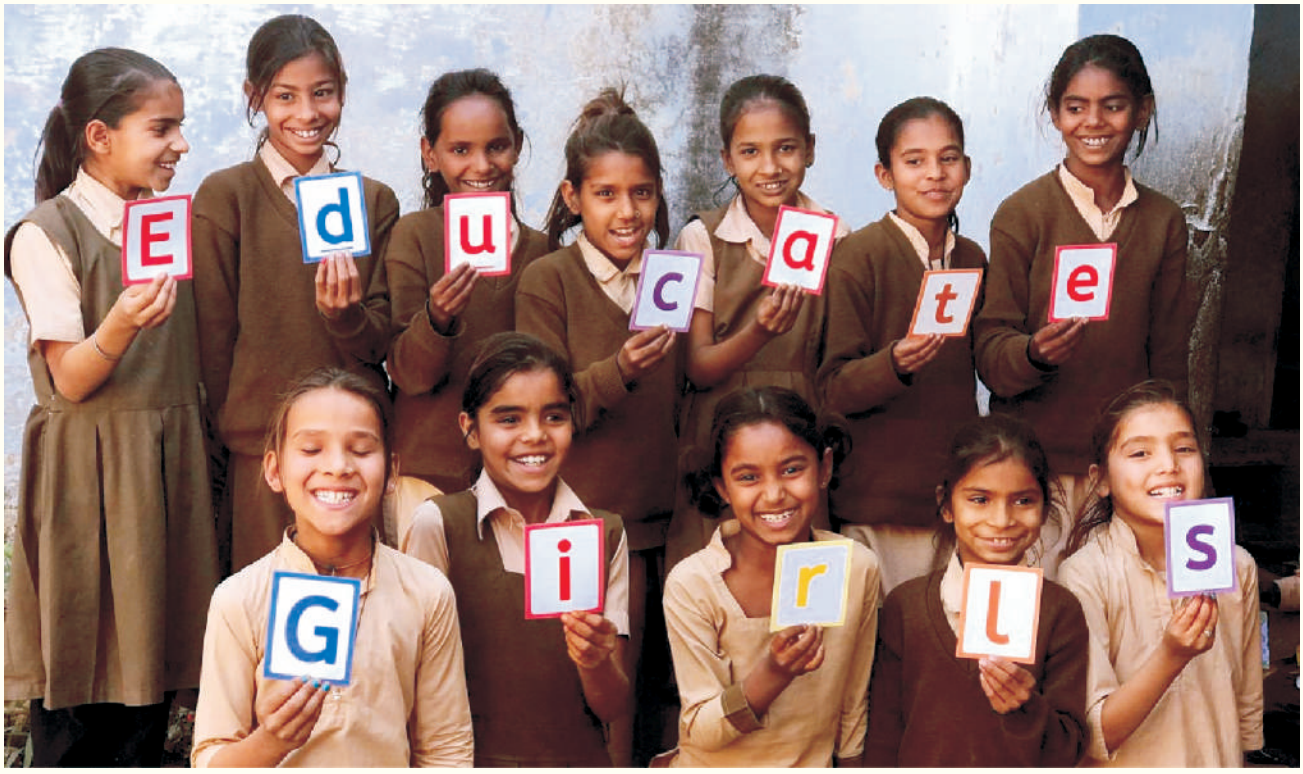

● **श्रुति गोयल**

दृश्य-1

(सूर्य अपनी चादर समान किरणों को काषवी की किताब से आहिस्ता से समेटते हुए)

राशि : अरे दीदी! शाम हो रही है, आज हमें छुट्टी मिलेगी या नहीं?

संध्या : हां दीदी! सूरज छिपने से पहले मुझे भी घर जाना है।

काषवी : भला तुम्हें क्यों घर जल्दी जाना है संध्या?

संध्या : मां कहती हैं हर पहर स्त्री के चरित्र को परिभाषित करता है। जितना अंधकार आकाश में उतना ही हमारे चरित्र पर।

(काषवी ने बड़े साहस के साथ गांव वालों से छिपकर इन लड़कियों को साक्षर करने का निर्णय लिया था। ताकि गांव की कोई लड़की ऐसी मानसिकता को आत्मसात न करे जो स्वयं ही खोखली हो। लेकिन यह केवल उसके बस की बात न थी।)

काषवी : ठीक है! तुम सब अभी जा सकती हो।

(सभी लड़कियां खिलखिलाती हुई वहां से चली जाती हैं। काषवी वहीं पेड़ के नीचे बैठी सोचती रहती है।)

काषवी (आत्मसंवाद करते हुए): इन लड़कियों के जीवन में शिक्षा का केवल इतना महत्व है कि कुछ घंटे काम से छुटकारा मिल जाता है। इन घंटों के बीच की स्वतंत्रता ही उनके हर दिन का सपना है। क्या कल्पनाओं की भी सीमा है या केवल इनकी कल्पनाओं को सीमित रखा गया है।

(काषवी अपने ननिहाल में पली बढ़ी थी और वहीं एक छोटे से कमरे में बने स्कूल में पढ़ती थी। लेकिन चाहे वह एक कमरा क्यों न हो, था सबके लिए पूर्ण और समान। पहली बार अपने गांव में वह इतने समय के लिए ठहरी। यहां के वातावरण को आत्मसात करना उसके लिए निसंदेह कठिन था।)

सत्य है एक की जिन्दगी दूसरे के लिए सौभाग्य है।

(काषवी सोचते सोचते अचानक से घर की ओर भागती है।)

दृश्य-2

(काषवी अपने घर की चौखट पर हांफते-हांफते पहुंचती है और दरवाजा खटखटाती है, उसकी मां दरवाजा खोलती है।)

मां (सरस्वती): क्या हुआ? अब कौन सा पहाड़ टूट गया?

काषवी : मां हमारे गांव में कोई मास्टर नहीं है या मास्टरनी? कोई

जो पढ़ाता हो?

मां (हंसते हुए): यहां लोग पढ़ते नहीं हैं न ही कुछ सोचते हैं। वे दिन में बीज उगाते हैं। रात में खाते हैं। यही शिक्षा है और यही जीवन। यहां शिक्षा आए भी तो क्या? किताबें क्या सिखाएंगी और क्या खिलाएंगी?

काषवी : और जो कोई चाहे तुम्हारे रास्ते से अलग चलना? जो चाहे पढ़ना?

मां : हमारा रास्ता नहीं है ये। ये तो यहां का सत्य है। और यहां कोई क्या चाहता है कोई बड़ी बात नहीं है। यहां बसा हर इंसान केवल बंधन मुक्त होना चाहता है, कोई सामाजिक पक्षपात से तो कोई घरेलू प्रतिबंधों से।

काषवी : मां लेकिन...।

मां (बीच में बात काटते हुए) : अब चुप हो जाओ और रसोई में आकर मेरा हाथ बटाओ।

काषवी का मन अब और विचलित हो गया। जैसे-जैसे वो इस गांव के नए नियमों को आत्मसात करने का प्रयास कर रही थी फिर कोई नई बात उसके हृदय को चीरती। वो अचंभे में सोचती इस अंधकार में किसी को कोई पीड़ा कैसे नहीं हो रही। कैसे सब बिन उजाले जीवन जिए जा रहे हैं। काषवी ने ठान लिया कि वो अब प्रयासों से मुख न फेरेगी। अगर केवल एक काषवी भी वो इस गांव में छोड़ जाए तो कुछ तो बदले।

अगले दिन से ही काषवी घर पर अपनी पुरानी किताबें और कॉपी जुटाने में लग गई। आज तक जो उसने उस चार दीवारी में सीखा मानो उसकी परीक्षा का समय हो। सहसा ही उसकी नजर उसकी कॉपी पर लिखे एक वाक्य पर पड़ी-

'शिक्षित व्यक्ति भाग्य का अस्तित्व स्वीकार नहीं कर सकता।'

(रबीन्द्रनाथ टैगोर)

दृश्य-3

बच्चों को इकट्ठा कर काषवी फिर उसी जगह जा बैठी। अभी भी उसके मन में टैगोर के वो शब्द निरंतर जप कर रहे थे।

(बच्चों को अपने चारों ओर बैठाकर काषवी बीच में बैठ जाती है और बड़े प्यार से सबसे एक सवाल पूछती है।)

काषवी : मुझे बताओ कि तुम्हारे सपने क्या हैं?

(काषवी जानती थी ये एक साधारण पर गंभीर सवाल है।)

संध्या : सपने जो हम सोते हुए देखते हैं?

मैं तो रोज सपने में हलवा खाती हूं।

राशि : मैं तो रोज नए कपड़े बनाती हूं।

(काषवी को इस बात की तसल्ली थी कि अभी इन्होंने सपना देखना नहीं छोड़ा है।)

काषवी : और तुम क्या देखती हो सपने में पाखी?

पाखी : मुझे सपने नहीं आते दीदी, लेकिन क्या आप कल वाली कहानी को पूरा करोगी आज? मेरा मन न जाने क्यों उसे पूरा सुनने के लिए विचलित है।

काषवी जिस कड़ी को पकड़ना चाहती थी आखिर वो उसके हाथ लगी। आखिर कोई तो था जिसे सामान्य से हटकर किसी वस्तु में रुचि थी।

(दिन और महीने बीते। अपनी नई-नई कहानियों से काषवी ने लड़कियों की रुचि केवल गृहस्थी और खेल से हटाकर शिक्षा की ओर बढ़ाई। हालांकि अभी भी वो पूर्णत: संतुष्ट नहीं थी। यह बात उसे सताती थी कि अगर गांव के लोगों को इसके बारे में पता लगा तो ये लड़कियां किस ओर जाएंगी।)

दृश्य-4

(गली में खेलते बच्चे)

(राशि अपने घर से भागती हुई सभी बच्चों के पास आती है।)

संध्या : क्या हुआ राशि? तुम इतनी जल्दी में कहां भागे जा रही हो? और तुम आज खेलने भी नहीं आई, दीदी के पास भी नहीं चली हमारे साथ?

राशि (हांफते हुए) : बाबा को कल पता चला कि दीदी हमें पढ़ा रही हैं और आज बाबा गांव की मंडली में दीदी को गांव से

निकालने की बात भी करेंगे। उसी के लिए मैं दीदी को बताने जा रही हूं।

पाखी : चलो हम भी तुम्हारे साथ चलेंगे।

(सब मिलकर काषवी के घर पहुंचते हैं।)

खिड़की से बच्चों को उसके घर की ओर भागते देखकर उसे आभास हो जाता है कि महीनों के संघर्ष का निर्णय निकट है। अब या तो ये गांव उसकी आंखों के सामने बह जाएगा या समृद्धि से खिल उठेगा।

राशि (ऊंचे स्वर में): दीदी...।

सब बच्चे (एक साथ): दीदी!

(काषवी भागती हुई दरवाजा खोलती है।)

काषवी : क्या हुआ राशि? क्यों इतनी घबराई हुई हो?

राशि : गांव की मंडली तुम्हारे घर कभी भी आती होगी दीदी, बाबा ने उन्हें तुम्हारे बारे में बता दिया है।

(थोड़ी दूर से गांव के लोगों की बातचीत करते हुए आवाजें धीरे-धीरे पास आने लगीं)

काषवी : कोई नहीं बच्चों। छुपाया गुनाह को जाता है और हमने कोई गुनाह नहीं किया है।

(आज काषवी के मन में चाहे भूचाल आ रहा हो, लेकिन बाहर से वो स्थिर और अडिग थी।)

गांव की मंडली काषवी के दरवाजे पर पहुंचती है।

श्याम लाल (मंडली के प्रतिनिधि): सुंदर...अरे ओ सुंदर। बाहर आओ जरा।

काषवी : क्या हुआ चचा? पिताजी घर पर नहीं हैं। तुम मुझे बताओ क्या बात है?

श्याम लाल : वाह, मुसीबत की जड़ खुद मुसीबत का कारण पूछ रही है? जाकर पिताजी को बुलाओ अपने।

काषवी : मुसीबत मैं नहीं आपकी सोच है चचा। आप मुझसे बात नहीं करना चाहते, क्यों? क्योंकि आपकी बातों से मेरा स्तर ज्यादा ऊंचा है? एक शिक्षित आवाज को दबाना किसी आम के बस की बात कहां?

श्याम लाल (भन्नाते हुए): देखा भाइयों! ये ही होता है जब लड़कियों को पढ़ाओ, बुद्धि भ्रष्ट जीवन नष्ट। ये हमारी लड़कियों की गृहस्थी बर्बाद कर देगी। इसको यहां से निकालना बहुत जरूरी है।

(तभी काषवी की मां खेत से वापस आती है और दरवाजे पर भीड़ देख कर घबरा जाती है।)

काषवी की मां : काषवी ये सब क्या हो रहा है? मंडली यहां क्या कर रही है?

श्याम लाल : अरे इससे क्या पूछ रही हो, हम बताते हैं। ये चार दिन की आती लड़की अपनी तरह हमारी लड़कियों को बर्बाद कर रही है। उन्हे पढ़ा रही है। न जाने क्या क्या सिखा रही है।

काषवी की मां : क्यों री काषवी, ये क्या बोल रहें हैं दादा? तुझे कितनी बार बोला था कि अपने नाना के पर अपने तक ही रख। कल ही तुझे वापस भेजने के लिए तेरे पिताजी को बोलूंगी। माफ कीजिए दादा! आप अपनी लड़कियों को ले जाइए उनकी बुद्धि को जो आहत पहुंचा, उसके लिए हमें माफ करें।

(काषवी ने जिन सीढ़ियों को महीनों लगा कर पार किया आज उन्हीं से उसको जोर का धक्का दिया गया। हड्डियों का टूटना फिर भी जीवन बचा सकता है लेकिन सपनों का टूटना, संवेदनाओं और साहस का टूटना है जो मनुष्य को खत्म कर देता है।)

काषवी बिना गुनाह के एक मुजरिम बन चुकी थी। फर्क सिर्फ इतना था कि शर्म से उसका सिर झुका नहीं था।

श्याम लाल (अभिमानी स्वर में): भाग्य सुना है लड़की! किस बला का नाम है? इनका भाग्य हमारे हाथ में है और हम ही उसे तय करते हैं। इससे छेड़खानी न तो आज तक किसी ने की न ही कोई करेगा।

इतना कहकर श्याम लाल पाखी का हाथ जोर से पकड़ कर मुड़ जाता है और घर की ओर जाने लगता है तभी काषवी की नजर पाखी के हाथ में पकड़े हुए पन्ने पर पड़ती है जिस पर लिखा होता है-

(शिक्षित व्यक्ति भाग्य का अस्तित्व स्वीकार नहीं कर सकता।)

चाहे लड़कियों को लिखना न आया हो, पढ़ना न आया हो लेकिन काषवी उनकी कल्पनाओं के तार खोलने में सफल हुई थी। वो खुद को यहां छोड़ चुकी थी।

मुझे धर्म समझा गया, इंसान नहीं

● पायल कुमारी

इस महामारी के दौर में हम सभी ने न सिर्फ अपनी बल्कि दूसरों की जिम्मेदारियों को भी कई हद तक संभाला है। कड़वी सच्चाई के साथ मुझे यह स्वीकार्य करना पड़ रहा है कि समाज हमसे नहीं बल्कि हम समाज की बदौलत हैं। याद रहे ये समाज आपका पेट नहीं पालता। हमेशा की ही तरह आज भी रहीम काका हमारे मोहल्ले में मौसमी सब्जियां बेचने आये हैं। पहले वह सिर्फ सब्जियां बेचते थे, लेकिन महामारी को देखते हुए अब वह जरूरत की कुछ घरेलू चीजें भी बेचने लगे हैं ताकि लोगों को घर से बाहर कम निकलना पड़े। 80 साल के इस बुजुर्ग के बेटे और बहू के गुजर जाने के बाद वह अकेले ही अपने पोते–पोती को जैसे–तैसे रूखा–सूखा खिला कर पाल रहे हैं। नेक दिल के रहीम काका लोगों का सामान घर तक पहुंचाने के पैसे तक नहीं लेते हैं।

सुबह से एक खबर ने सनसनी फैला दी है कि कुछ मुसलमान समुदाय के लोग हिन्दुओं को खत्म करने के लिए महामारी को फैला रहे हैं। इस खबर को गंभीरता से लेते हुए कड़ी निगरानी शुरू कर दी गई क्योंकि मामला महामारी का नहीं धर्म का बनता जा रहा था। स्थानीय लोगों ने मुसलमानों का आना वर्जित कर दिया और जो आसपास दिखते थे उनकी लाठियों और डंडों से खूब पिटाई की जाती थी। तबीयत खराब होने की वजह से रहीम काका आज 3 दिन बाद मोहल्ले में अपने काम पर दुबारा लौट रहे थे ताकि लोगों की मदद भी हो जाए और घर में दो भूखे बच्चों का भी पेट पल जाए। मोहल्ले के पास पहुंचते ही उन्हें वहां रोक दिया गया और कहा गया कि यहां मुसलमानों के आने की मनाही है। रहीम काका एक अच्छे इंसान थे और मोहल्ले के लोगों को अपना समझते थे। उन्होंने बात मजाक में टाल दी और अंदर चले आए। आज उनके दिए सामान लोगों के घरों के सामने पड़े रहे लेकिन किसी ने भी उसे उठाया नहीं। वो आवाज लगा कर मोहल्ले के लोगों को बुलाने लगे। इतने में ही कुछ लड़के हाथों में डंडा लेकर उनकी तरफ बढ़े। रहीम काका थोड़े पीछे हट गए लेकिन जैसे ही वो कुछ बोलते उनमें से एक लड़के ने उनकी पीट पर वार कर दिया और उनका सब्जी और सामान भरा ठेला भी उलट दिया। बेचारे दर्द के साथ जमीन पर गिर गए लेकिन कोई उनकी मदद करने नहीं आया।

लड़कों ने उन पर इल्जाम लगाया कि ये मुसलमान हैं और उनके द्वारा बेची गयी चीजों में जहरीले और मिलावटी पदार्थ हैं, जिसे खाकर लोग बीमारी और संक्रमण की चपेट में आ सकते हैं। रहीम काका सबके पैरों में गिरकर बोलने लगे कि आप चाहें तो जांच करा लीजिए मेरे लाए सामानों की। सुषमा के बेटे को संक्रमण होने पर जब पूरे परिवार को क्वारंटीन कर दिया गया तो मोहल्ले के लोगों ने भी दूरी बना ली तब रहीम काका ही जरूरत की सारी चीजें उनको लाकर देने लगे और उस परिवार का खूब ध्यान रखा। शर्माजी के लिए भी रोज दवाई और इंजेक्शन का इंतजाम रहीम काका ही करते थे।

रहीम काका सिर्फ जो सामान बेचते थे उसके ही पैसे लेते थे। कभी अपनी सेवा की कीमत नहीं मांगी, लेकिन आज उन्हें उनके धर्म से आंका गया न कि कर्मों से। रोते रोते वो फैली हुई सब्जियों और सामान को लेकर वहां से चले गए। घर में बच्चे भूखे थे, इसलिए अपने दर्द को भूल कर वो दूसरे गली–मोहल्ले में सब्जी बेचने चले गए लेकिन कोई भी उनसे सब्जी या कोई सामान नहीं लेता था। थक हार के वो घर को आ गए और बच्चों को खुद से लिपटा कर बहुत रोने लगे कि कैसे सबको उनके अंदर का मुसलमान नजर आ गया, लेकिन उनके घर के भूखे बच्चे नहीं दिखे। क्या धर्म इतना निर्दयी हो सकता है कि किसी की भूख और दर्द को देखने नहीं देता। रात को अपने भूखे पोते–पोती को पानी पिलाकर और उन्हीं दबी–कुचली सब्जियों को पकाकर परोस दिया और अगले दिन की एक अच्छी सुबह की उम्मीद के साथ सो गए।

जूनिया

● **कृष्णा**

उस रात भी देर तक नींद नहीं आई तो बिस्तर पर ही लेटे-लेटे करवटें बदलता रहा।

बदन बुखार से तप रहा था और आंखों में खून भर आया था। ऐसा लगता था जैसे कोई आंखों में सुइयां चुभो रहा हो। सिर का दर्द भी इतना बढ़ गया था कि लगता था सिर अभी फट जाएगा। दरअसल मैं तीन रात सो नहीं सका था और आज चौथी रात थी। जिस कब्रिस्तान के सन्नाटे में लोग अपनी जिंदगी भर की पीड़ा दुख दर्द को भूलकर चैन से सो गए थे वहीं पर न जाने क्यों मैं बेचैन तीन रातों से आंख भर नींद को तरस रहा था। एक तो इतना दर्द, ऊपर से इन भेड़ियों और कुत्तों के रोने की आवाजं एक मिनट को भी चैन नहीं लेने दे रही थीं। रात के इस सन्नाटे में मैं अकेला इन बेजान कब्रों का मालिक रखवाला बना हुआ था। इन दिनों शहर में कब्रों से लाश गायब होने की अजीबोगरीब वारदातें हो रही थीं और यह शहर का ऐसा कब्रिस्तान था जहां से अब तक 25 लाशें गायब हो चुकी थीं। इस कब्रिस्तान का पहरेदार बूढ़ा हो चुका था। रात को देख नहीं पाता था देखता भी तो क्या करता? कोई नया आदमी यहां आना नहीं चाहता था। आये भी क्यों, अपनी जान को कम पैसे के लिए कोई जोखिम में डाले। इस कब्रिस्तान को लेकर जो अजीब और भयानक अफवाहें लोगों ने फैला दी थीं इसकी वजह से तो कोई रात देर रात इस रास्ते भटकना भी नहीं चाहता था। कब्रिस्तान के मालिकों को कम पैसे में बिकने लायक जान चाहिए थी और मुझे जान दांव पर लगाने के लिए पैसा!

उधर जूनिया अस्पताल में जिन्दगी और मौत से जूझ रही थी। इधर मैं इस श्मशान में उसके इलाज के लिए पैसे पर जान लगाए था। हालांकि मेरी जान तो उधर ही जा रही थी इस जान की कोई कीमत नहीं थी। जूनिया न सिर्फ मेरी बहन थी बल्कि वही मेरी जान, मेरी दुनिया, मेरी सब कुछ थी। जूनिया के इलाज के लिए डॉक्टरों ने कम से कम 5 लाख का खर्चा बताया था और वह भी एक महीने के भीतर। मेरे पास अपना कहने के लिए सिर्फ जूनिया ही थी। हम दोनों ही अनाथ थे और साल भर पहले तक किसी शहर के अनाथ आश्रम में पल रहे थे। आश्रम हम पर रहम और दया के नाम पर तरह-तरह के जुल्म कर रहा था। दुनिया को दिखाने के लिए आश्रम में स्कूल और सब कुछ फ्री था पर उसके लिए हमसे आश्रम में दिन रात मेहनत कराई जाती थी। हद तो तब होती जब आश्रम की मासूम अनाथ लड़कियों को विदेशों में ले जाकर बेच दिया जाता था। मेरी उम्र उस समय 17 की थी। 11वीं में पढ़ रहा था। जूनिया 9 साल की थी। दिन भर आश्रम में गुलामों की तरह मेहनत करवा कर रात में हमें या तो भूखा रखते थे या फिर जिंदा रखने को एक आधी रोटी दे देते थे।

लड़कियों को खाने की कोई समस्या नहीं थी वह इसलिए कि उनको बेंच कर उन्हें मोटी रकम मिलती थी। इसलिए वो ठीक ठाक दिखें इसके लिये खाने की कोई कमी नहीं की जाती थी। रात में जब दिन भर की मेहनत से टूटा और खाना मांगने पर गार्ड के लात घूसे खाकर भूखे पेट सोता तो जूनिया खुद के हिस्से का खाना छिपाकर चुपके से लाकर मुंह में डालने लगती थी। मना करने पर डांटती और इन सबसे जब आंखों में पानी भर आता तो आंखें पोंछकर कभी घावों को निहारती सहलाती तो कभी तोतली आवाज में लोरी गाने लगती ताकि मैं सो जाऊं तो दर्द कम हो। मैंने अपने मां बाप को नहीं देखा था और अनाथ आश्रम के कम ही बच्चे ऐसे खुशनसीब होते हैं। मुझे लगता था जैसे जूनिया मेरी मां है या मां होती तो भी जूनिया जैसी नहीं होती। जूनिया मेरी जिन्दगी बन चुकी थी। भाई-बहन, मां-बाप हर रिश्ता हमने एक दूसरे में पा लिया था। एक रात लड़कियों को खरीदने का बड़ा ऑफर आश्रम में आया था। जूनिया का भी रेट तय हो गया था। वो अबोध सी बच्ची मेरे कांधे पर सिर रख कर खूब रोई थी। उसे भय अपने बेचे जाने का नहीं बल्कि मुझसे बिछुड़ जाने का था कि मुझे अब खाना कौन खिलायेगा।

लड़कियों को तीसरे दिन यहां से ले जाना था। अगली ही रात मैं जूनिया को जगाकर सबको सोता देख मौके से भाग निकला। स्टेशन तक जैसे-तैसे पहुंचा। मेरे पास टिकट के लिए पैसे नहीं थे या शायद पैसा नाम का शब्द पहली या

दूसरी बार सुना था। हम एक माल गाड़ी में चुपके से चढ़ गए और देर रात तक डर के मारे नींद नहीं लगी जब लगी तो आंखें एक अंजान शहर और अनजान जिंदगी में खुली। मेरे सामने अपना और अपनी बहन जूनिया दोनों का पेट पालने का सवाल था सो कुछ दिन मजदूरी करके काम चलाया। आश्रम में हमने पढ़ाई भी की थी। मैं 11वीं में और जूनिया तीसरी में थी। यहां भी हमने पढ़ने की ठानी और मैं कुछ ही दिनों में छोटे बच्चों को ट्यूशन देने का काम पा गया। ऐसे में मेरे पास खुद पढ़ने और जूनिया को पढ़ाने का समय और पैसा मिल गया।

इस साल मैंने 12वीं पास की थी और डॉक्टर बनकर जूनिया का इलाज करने का सपना देख रहा था। दरअसल जूनिया को बचपन से ही शायद सांस की बीमारी थी। शायद इसीलिए इसके मां बाप ने एक तो लड़की ऊपर से मरीज समझकर उसे आश्रम में छोड़ दिया था। मैं बस चाहता था जल्दी से डॉक्टर बनकर खुद उसका इलाज करूं। मैंने पैसे भी बचाने शुरू कर दिए थे। इस साल के नीट के एग्जाम में अच्छी रैंक मिल गई थी। पूरे स्कूल में बिना कोचिंग किए ऐसा करने वाला पहला लड़का मैं था। स्कूल ने आगे की पढ़ाई का खर्चा संभालने की बात की। इधर जूनिया की बीमारी उभर गई और 5 दिन पहले उसे अस्पताल में भर्ती किया। अब उसके इलाज के लिए इधर-उधर से पैसे जुटा रहा हूं। 5 लाख बड़ी रकम होती है। कुछ महीनों में नहीं कमाई जा सकती। इसलिए जो काम मिल रहा है, जैसा काम मिल रहा है, कर रहा हूं। इसी सिलसिले में आज इस कब्रिस्तान में तीन दिन से रात गुजार रहा हूं।

मेरी आंखें मानों नींद की भीख मांग रही हों। कदम मेरे लड़खड़ा रहे थे परंतु दिल और दिमाग में अभी भी जूनिया का ख्याल आ रहा था कि तभी रोने की आवाज सुनाई पड़ती है। नींद भरी आंखों से देखने का प्रयास कर रहा था कि मेरे कंधे पर किसी ने हाथ रखकर पूछा कि कब्रिस्तान की देखरेख तुम ही करते हो भाई। मैंने कहा, जी हां मैं ही करता हूं। आप कौन तब वह व्यक्ति बोलता है, 'मैं डॉक्टर हामिद खान हूं।' डॉक्टर का नाम सुनते ही मानो मेरी सारी थकान मिट सी गई। मैं अपने पूरे होशो हवास में आ गया। तब पता चला कि डॉक्टर साहब के पिताजी अब नहीं रहे और वो उन्हें यहां दफनाने के लिए आए हैं।

डॉक्टर साहब, तुम तो बहुत छोटे हो, यहां पर आग क्यों दे रहे हो? पढ़ाई नहीं करते!

मैं, नहीं नहीं साहब! मजबूरी साहब मजबूरी कुछ भी करवाती है। मेरी एक छोटी बहन है जिसका नाम जूनिया है। उसके इलाज के लिए पैसे का बंदोबस्त कर रहा हूं यहां पर पहरा दे कर। वैसे मैंने नीट की परीक्षा क्वालीफाई कर ली है।

डॉक्टर साहब, अरे वाह! तुम तो बहुत अच्छे विद्यार्थी हो। चलो मैं तुम्हारी बहन के इलाज के लिए पैसे दिए देता हूं, परंतु मेरी भी एक शर्त है। शर्त मंजूर हो तो बताएं।

मैं-क्या? कौन सी शर्त? मुझे सब मंजूर है। बस जूनिया को बचा लीजिए। मैं चूल्हा चौका झाड़ू पोछा बर्तन सब करने को तैयार हूं।

डॉक्टर, अरे नहीं नहीं! यह सब करने की जरूरत नहीं है। मेरे कोई औलाद नहीं है और मेरी पत्नी की मृत्यु दो साल पहले ही हो चुकी है। मेरा अपना कहने को सिर्फ पिताजी थे, परंतु आज वह भी नहीं रहे। इसलिए मैं तुम्हें अपनाना चाहता हूं और साथ ही तुम्हारी बहन जूनिया को भी। मुझे बस एक परिवार चाहिए। बस इतनी सी बात है।

मन ही मन मेरी खुशी का ठिकाना नहीं रहा। मुझे ऐसा लगने लगा इंसानियत अभी भी जिंदा है, तभी डॉक्टर साहब ने पूछा, कहां खो गए? तुमने बताया नहीं कि तुम्हें मंजूर है या नहीं। मैं उन्हें गले लगाकर कहा-जी पिता जी। फिर क्या था अगले ही दिन हम दोनों हॉस्पिटल जाकर जूनिया के इलाज के लिए पैसे जमा करा दिए। जूनिया का इलाज तीन दिनों तक चला और उसके अगले दिन हमें जूनिया से मिलने का मौका मिला। जूनिया मुझे गले लगाकर खूब रोई और तिरछी नजरों से डॉक्टर साहब को देखती रही।

आज मैं एम्स में अपनी स्नातक की पढ़ाई कर रहा हूं और जूनिया पांचवीं कक्षा में पढ़ रही है और हां अब हम अनाथ नहीं हैं क्योंकि हमारे पिताजी का नाम 'डॉक्टर हामिद खान' है।

कोरोना काल ने कुम्हारों का धंधा मंदा किया

● **मानसी बिष्ट**

दिल्ली में उत्तमनगर के पास स्थित कुम्हार कॉलोनी, जिसकी देश ही नहीं दुनिया भर में चर्चा होती है। इसकी वजह है इस कॉलोनी के 20 से ज्यादा कुम्हार अपनी हस्तकला के लिए राष्ट्रीय सम्मान से सम्मानित हो चुके हैं। कोरोना काल में हुए देशव्यापी लॉकडाउन से इन कुम्हारों पर काफी प्रभाव पड़ा है। दिवाली और दशहरा जैसे त्योहारों पर भी इनकी आर्थिक स्थिति में सुधार नजर नहीं आया, जो इनके लिए सीजन का सबसे महत्वपूर्ण समय होता है।

इस कॉलोनी में कुम्हारों के 400 से ज्यादा परिवार रहते हैं। इसमें अधिकांश राजस्थान से हैं और कुछ हरियाणा से आकर बसे हैं, जो यहां पर पहले परंपरागत और अब आधुनिक दोनों तरह के बर्तन बनाते हैं। यहां निर्मित बर्तनों की मांग जितनी देश में है, उतनी विदेश में भी है। यहां के मिट्टी के बने सामान दुनिया भर में भेजे जाते हैं। इन्हें बनाने के लिए अलग से चिकनी मिट्टी उपयोग में लाई जाती है, जो हरियाणा और राजस्थान से आती है। उत्तम नगर में कुम्हारों के परिवार की महिलाएं आम तौर पर मिट्टी और मिट्टी की लोई, सांचे और दीया बनाती हैं, मिट्टी के बर्तनों को रंगती और उन पर नक्काशी करती हैं।

कोरोना में हुए लॉकडाउन से इन कुम्हारों के धंधे पर हुए नुकसान का अनुमान इस बात से भी लगाया जा सकता है कि यह सारे कुम्हार यह काम कई पुश्तों से कर रहे हैं। यह लोग अपने घर में ही मिट्टी के सामान बनाते हैं और घर से ही दिल्ली सहित पूरे देश में सप्लाई हैं। इन कुम्हारों के अनुसार इन लोगों ने जब से होश संभाला है तब से वह इसी काम में लगे हैं। लॉकडाउन के बाद से उनके काम में 40 प्रतिशत की कमी आ गई हैं। कोरोना के कारण दीपावली पर दियों के ऑर्डर भी इस बार काफी कम आए हैं। इन लोगों का पुराना माल अभी भी रखा हुआ है। दिवाली में जितनी उम्मीद थी उस तरह कुम्हारों का काम नहीं चला।

यहां काम करने वाले दयाराम प्रजापति ने बताया, 'हमारे दादा भी यही काम करते थे और हम भी बचपन से यही कर रहे हैं। लेकिन कोई बदलाव नहीं आया। सरकार ने हमारी कोई मदद नहीं की, न तो कोई मार्केट दी और न ही कोई सब्सिडी जैसी सुविधा, जबकि ये काम तो सदियों पुराना है। पहला बिजनेसमैन और पहला व्यापारी कुम्हार ही था। सरकार ने हमारे लिए कुछ नहीं किया। अगर सरकार मदद करे तो हमारे काम में बहुत कुछ हो सकता है।"

प्रवासी कुम्हारों की हालत लॉकडाउन के कारण खराब रही। काम बंद होने के कारण काफी कुम्हार वापस बिहार चले गए और दिवाली के समय काम मिलने की उम्मीद से वापस दिल्ली आए। दिवाली होने के कारण उनका काम तो चला है लेकिन पहले जैसा नहीं। वैसे तो अब सब धीरे-धीरे खुलने लगा है और उम्मीद है कि मेले भी जल्द खुल जाएंगे। इन कुम्हारों की एक समस्या यह भी है कि नगरपालिका वाले इन्हें आकर मना करते हैं कि भट्ठी बंद करो, प्रदूषण होता है। इस पर यह लोग बस इतना चाहते हैं कि सरकार बस इनका काम चुपचाप चलने दे या फिर सब्सिडी के साथ गैस भट्ठी मुहैया कराये।

पूरी कॉलोनी में एक बात सामान्य है कि इस काम में घर के सभी लोग किसी न किसी रूप में शामिल हैं। लेकिन अब जैसे हालात हैं उसको देखते हुए यह कुम्हार नहीं चाहते हैं कि उनके बच्चे ये काम करें। उनको लगता है कि अब इस काम की वैल्यू खत्म होती जा रही है। इसकी वजह सरकार का इनके प्रति कोई ध्यान न देना भी है। यह कुम्हार चाहतें है कि अगर हैंडीक्राफ्ट को बचाना है तो सरकार हमारी मदद करे। इनमें से कई कुम्हारों का हैंडीक्राफ्ट का कार्ड भी बना हुआ है लेकिन इनको इसका कोई फायदा नहीं मिलता।

इस कॉलोनी की हस्तकला का कितना महत्व है, इसे इस बात से भी समझा जा सकता है कि यहां के कई कुम्हारों को उनकी कला के लिए राष्ट्रपति से अवार्ड भी मिल चुका है। 27 साल के नरेंद्र प्रजापति भी उन्हीं में से एक हैं जो खुद एक स्टेट अवॉर्ड जीत चुके हैं और इनके पिताजी लच्छीराम को

उनकी हस्तकला के लिए प्रतिभा पाटिल से राष्ट्रपति अवॉर्ड मिल चुका है। पहले वह मटके बनाते थे लेकिन अब समय के साथ और चीजें भी बनाते हैं, जो छोटी से लेकर 15 फुट तक होती हैं। मिट्टी से बने उनके सामान देश-विदेश में जाते हैं।

इन कुम्हारों के अनुसार इन लोगों को जो अवॉर्ड मिले हैं उनकी पहले तो वैल्यू थी, जैसे कहीं हैंडीक्राफ्ट वर्कशॉप वगैरह में, लेकिन छह साल से वह भी खत्म हो गई है। कुम्हार कॉलोनी में 400 से ज्यादा परिवार हैं किसी को न तो आज तक कोई सब्सिडी मिली और न ही कोई लोन आदि।

इस कॉलोनी में ऐसे बहुत से विद्यार्थी हैं जो पढ़ाई के साथ अपने परिवार का हाथ भी बंटा रहे हैं। लॉकडाउन के कारण काम में फर्क तो पड़ा ही साथ ही हरियाणा और राजस्थान से जो मिट्टी आती है वह भी महंगी हो गई और दूसरा नगरपालिका वालों की वजह से इन लोगों को भट्ठी को रात में चलाना पड़ता है।

70 साल के किशोरी लाल 1977 में राजस्थान के अलवर से यहां आकर बसे थे और तभी से अपने छह बेटों के साथ इस काम में लगे हुए हैं। किशोरीलाल ने बताया, 'कोरोना में चार महीने तो बिल्कुल बैठे रहे थे। 70 के दशक से इस काम को कर रहा हूं लेकिन आज तक इतना मंदा नहीं हुआ, जितना इस बार है। कोई लेने वाला ही नहीं है, बनाकर क्या करें। इस बार तो बच्चों को खाना मिल जाए वही बहुत है। दिवाली-दशहरा पर तो हमें बिल्कुल भी टाइम नहीं मिलता था, रात में भी काम करते थे और अब तो दिन में भी बैठे रहते हैं। हमारा माल मंदा, बाकी सब महंगा, जो माल 10 रुपए में बिकता था उसे अब सात में बेच रहे हैं क्या खाएं कुम्हार!'

कुम्हार कॉलोनी के प्रधान हरिकिशन प्रजापति भी 1976 से इस काम को कर रहे हैं। उनको 1990 में नेशनल और 2012 में शिल्पगुरु अवॉर्ड मिल चुका है। नगरपालिका की कुम्हारों की शिकायत पर हरिकिशन ने बताया, 'यहीं पास में बिंदापुर ग्राम समिति ने एनजीटी में एक झूठी शिकायत कर दी थी कि ये लोग भट्ठी में टायर, प्लास्टिक जलाते हैं। जबकि हम तो लकड़ी का बुरादा जलाते हैं, पर इसे एनजीटी ने सुप्रीम कोर्ट में भेज दिया अब हमने कोर्ट में कहा कि हमें गैस की भट्ठियां सब्सिडी पर दी जाएं। सुप्रीम कोर्ट ने एनजीटी, केंद्र और राज्य सरकार को तलब किया है कि अगर ये भट्ठी बंद करें तो आप इनको क्या विकल्प उपलब्ध कराएंगे और बाकी कोरोना की वजह से सुनवाई रुक गई थी तो मामला अटका हुआ है।'

काम न तो ज्यादा तेज है और न ही मंदा, लेकिन पिछले साल के मुकाबले 50 प्रतिशत कम है। पहले यहां 12 लोग काम करते थे। अब सात हैं। जो ग्राहक एक बार माल ले गया वह दोबारा नहीं आ रहा है और ऊपर से कोरोना बीमारी का संकट भी इन कुम्हारों पर मंडरा रहा है। कुम्हारों को उम्मीद थी कि 'करवाचौथ' पर काम बढ़ेगा पर पिछले साल के मुकाबले काम कम रहा। लॉकडाउन और कोरोना के डर के कारण भी लोग सामान नहीं खरीद रहे हैं। दिल्ली की इस कुम्हार कॉलोनी में काम करने वाले अधिकतर लोगों के अनुसार अगर सरकार उन पर कुछ ध्यान दे तो वे इस हस्तकला को देश-विदेश में ऊंचे मुकाम पर पहुंचाने की इच्छा और ताकत रखते हैं।

नए साल को वैक्सीन का तोहफा

• प्रियंका पाल

बीता साल चुनौतीपूर्ण होने के साथ-साथ समर्पण और साहस से भरा रहा है। विश्व में फैली वैश्विक महामारी को पूरा एक साल हो गया है, लेकिन नया साल हर्ष और उल्लास से परिपूर्ण है और अपने साथ नयी उम्मीदों के आगमन का संकेत है। अक्सर लोगों को कोई तोहफा दें तो उन्हें बड़े पसंद आते हैं, चाहे फिर वो कैसा भी हो। इसी बात पर विभिन्न देशों की सरकारों ने अपने-अपने देशवासियों को तोहफा दे डाला। ये कोई मामूली तोहफा नहीं बल्कि कोरोना की वैक्सीन है, जो किसी संजीवनी से कम नहीं। जिसने लोगों को काफी खुशी दी है।

बीते साल से बहुत कुछ सीखने को मिला। बीते साल ने सिखाया कि भारत जब एकजुट होता है तो वह सबसे कठिन परिस्थिति से भी बाहर आ सकता है। इस वैश्विक महामारी का आगमन चीन के वुहान शहर से हुआ था। इस कोरोना महामारी ने न सिर्फ लोगों को बल्कि काफी देशों की अर्थव्यवस्था को भी नुकसान पहुंचाया। इस बीमारी की वैक्सीन बनाने के लिए दुनिया भर के डॉक्टर अनवरत प्रयास करते रहे। अतः उनकी कामयाबी रंग भी लाई, जिसका परिणाम है 'कोविशील्ड' और 'कोवैक्सीन'। पूरी दुनिया में कोरोना की नौ वैक्सीन को अलग-अलग देशों की सरकारों ने मंजूरी दी। इनमें से दो फाइजर और मॉर्डना वैक्सीन भी है। इस तकनीक से बनी वैक्सीन का इस्तेमाल इंसानों पर किया गया, जिससे लोगों में गंभीर इफेक्ट देखने को मिले। बाकी चार वैक्सीन ऐसी हैं, जो वायरस को इन-एक्टीवेट कर बनाई गई हैं। इनमें भारत बॉयोटेक की कोवैक्सीन और चीन वाली वैक्सीन भी शामिल है। मॉर्डना वैक्सीन के अलावा किसी और वैक्सीन के इस्तेमाल में कोई सीरियस इफेक्ट सामने नहीं आए हैं। इसी तरह इतने प्रयासों के बाद देश को पहली कोविड वैक्सीन मिली। भारत में कोविड-19 वैक्सीन को लेकर समीक्षा कमेटी की कई अहम बैठकें हुईं। कोविशील्ड को अप्रूवल मिला। अप्रूवल मिलते ही वैक्सीनेशन की तैयारियां शुरू हो गईं। भारत सरकार के स्वास्थ्य मंत्रालय के मुताबिक किसी भी देश में टीकाकरण शुरू होने के बाद पहले दिन सबसे ज्यादा टीका भारत में लगा। कुछ महीनों से चल रहे ह्यूमन ट्रायल का नतीजा वैक्सीन के आने का संकेत बना।

इसमें भी कोई शक नहीं कि लोगों में इस बात का भी भ्रम बना हुआ है कि वैक्सीन से लोगों को खतरा है। लोकल सर्कल्स नाम की एक संस्था पिछले कुछ समय से भारत के लोगों में वैक्सीन हेजिटेंसी कितनी है, इसे लेकर ऑनलाइन सर्वे कर रही है। इस सर्वे का परिणाम इसी साल के शुरुआत में मिला। इससे यह पता चलता है कि भारत में 69 फीसदी जनता को कोरोना वैक्सीन लगाने को लेकर हिचकिचाहट है। हालांकि कोविशील्ड में हल्का बुखार और कुछ एलर्जी के रिएक्शन देखने को मिले थे। कुछ डॉक्टरों का कहना है कि वैक्सीन लगने के बाद सूजन, हल्का बुखार, बदन दर्द और रेशेज जैसे मामूली लक्षण हो सकते हैं। अभी तक किसी वैक्सीन की वजह से लोगों की जान को खतरा पहुंचाने वाला केस सामने नहीं आया है। भारत में समय पर प्रभावी कदम उठाने के कारण और समय पर लगाए गए लॉकडाउन के कारण कोरोना संभला है। कोरोना महामारी में सेवाएं देने वाले स्वास्थ्य कर्मियों, कार्यकर्ताओं और वैज्ञानिकों की सराहना भी करनी चाहिए, जिन्होंने दिन-रात एक कर लोगों की रक्षा की। कोरोना महामारी से लोगों को सचेत करने के लिए मोबाइल एप भी कारगर साबित हुए जिससे लोगों में लक्षण दिखने पर सूचित किया जाने लगा। वैक्सीन देने के लिए पूरे देश में 96 हजार कर्मियों को प्रशिक्षण दिया गया।

कोवैक्सीन और कोविशील्ड दोनों ही कोरोना को अभी तक मात देने में कारगर सिद्ध हो रही हैं। इस समय भी हमें कोरोना से लड़ते रहना होगा। पूरा विश्व इस महामारी से अब छुटकारा पाना चाहता है और पहले की तरह अपने जीवन की पटरी पर लौटना चाहता है, यह तभी संभव है जब हम सावधानी बरतेंगे। उम्मीद है जल्द ही हम इस महामारी से निजात पा लेंगे।

लोकतंत्र के लिए घातक है म्यांमार में तख्ता पलट

● **इमरान**

म्यांमार में लोकतंत्र की दस साल की यात्रा खत्म होती दिख रही है। 20 नवंबर 2020 को पहले टीवी चैनलों के प्रसारण बंद हो गए। इंटरनेट गतिविधि धीमी हो गई। दूरसंचार नेटवर्क निलंबित कर दिए गए और सैन्य टीवी चैनल ने आपातकाल की घोषणा करते हुए कहा कि सेना ने एक वर्ष के लिए राष्ट्र पर नियंत्रण कर लिया है। आंग सान सू ची और देश की सत्ताधारी पार्टी नेशनल लीग फॉर डेमोक्रेसी के नेताओं को सेना ने हिरासत में ले लिया है। 2020 के राष्ट्रीय आम चुनाव में आंग सान सू ची की नेशनल लीग फॉर डेमोक्रेसी ने एकतरफा और लोकप्रिय मतों से शानदार जीत हासिल की परंतु सेना सबूतों के बिना जोर दे रही है कि चुनाव में व्यापक धोखाधड़ी हुई।

एनएलडी समर्थकों से तख्ता पलट के खिलाफ विरोध करने का आग्रह कर रही है। 2011 में सैन्य शासन के खिलाफ विरोध के बाद यह म्यांमार में सबसे बड़े विरोध प्रदर्शन हैं। कुछ कार्यकर्ताओं ने सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू किया और तत्कालीन सैन्य शासन के साथ सहयोग नहीं करने को कहा है। प्रदर्शन की एक नई शैली तीन उंगली की सलामी भी लोकप्रिय हो रही है।

विश्व के नेताओं ने इस घटना की निंदा करते हुए कहा है कि यह घटना लोकतंत्र के मूल सिद्धांतों पर हमला है और म्यांमार के नागरिकों के जनादेश का अपमान है। एशियन देशों की मानवाधिकार संसदीय समिति ने कहा है कि म्यांमार का तख्ता पलट उन लाखों लोगों के जख्मों पर नमक रगड़ने की तरह है जिन्होंने नवंबर महीने में आंग सान सू की पार्टी को वोट किया था। संगठन ने कहा कि म्यांमार एक बार फिर सैन्य तानाशाही के दौर में लौट सकता है। अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया सहित भारत ने भी म्यांमार की सैन्य प्रशासन पर प्रतिबंध लगाने की घोषणा की है। परंतु चीन और रूस ने सैन्य प्रशासन की निंदा न करते हुए तख्ता पलट को म्यांमार का आंतरिक मामला बताया है और सेना की सरकार को समर्थन दिया है। म्यांमार में दशकों तक सैन्य शासन ही रहा है। आंग सान सू ची ने साल 1989 से लेकर साल 2010 तक करीब 15 साल जेल में ही बिताए हैं। साल 2011 में जनआंदोलन और अंतरराष्ट्रीय दबाव की वजह से उनके नेतृत्व में लोगों द्वारा चुनी हुई सरकार आई लेकिन सत्ता में सेना का वर्चस्व बना रहा। संविधान में सेना के लिए 25 फीसदी सीटें आरक्षित की गई हैं और तीन सबसे अहम मंत्रालयों में नियुक्ति का अधिकार सेना के ही पास है।

सवाल यह भी है कि सेना के पास इतनी शक्ति के बावजूद सैन्य तख्ता पलट क्यों हुआ? मिन आंग लाइंग और अन्य सेना अधिकारी नई सरकार द्वारा नए सुधार लाने की योजना से चिंतित थे, जैसे कि संविधान को बदलना जो कि सेना ने सन् 2008 में अपने अनुकूल बनाया था। अनिवार्य रूप से यह तख्ता पलट सेना के कमांडर-इन-चीफ मिन आंग लाइंग और आंग सान सू ची एवं उनकी एनएलडी पार्टी के नेतृत्व में एक लोकप्रिय आंदोलन के बीच मुकाबला है। एक फरवरी को सेना की सत्ता अपने हाथों में लेने के बाद से न तो आंग सान सू ची की तरफ से और न ही राष्ट्रपति विन मिन की तरफ से कोई बयान आया है और न ही उन्हें सार्वजनिक तौर पर कहीं देखा गया है। कई राजनीतिक विशेषज्ञों का यह भी कहना है कि आंग सान सू ची द्वारा रोहिंग्या मुसलमानों के खिलाफ सेना की कार्रवाई का बचाव करते हुए अंतरराष्ट्रीय स्तर पर उनकी छवि को काफी नुकसान पहुंचा, जिससे सेना को और वैधता मिली है। म्यांमार के लोकतांत्रिक इतिहास में ये दिन काली स्याही से लिखे जाएंगे, परंतु म्यांमार के नागरिकों ने तय किया है कि वे अंत तक लड़ेंगे जो उनके जीवन, उनकी पीढ़ियों के लिए होगा और उन्हें विश्वास है कि म्यांमार में फिर लोकतंत्र का सूर्य उदय होगा।

अमेरिका में चली बाइडन नीति

• **समीरा**

अमेरिका की चुनावी प्रक्रिया भारत की चुनावी प्रक्रिया से बिल्कुल अलग है। यह प्रक्रिया विश्व में सबसे अधिक जटिल, खर्चीली और लम्बी है। अमेरिका के संविधान के अनुच्छेद-2 में राष्ट्रपति चुनाव की पूरी प्रक्रिया का जिक्र किया गया है। राष्ट्रपति का चुनाव हर चौथे साल में किया जाता है। इस तरह राष्ट्रपति का चार साल का कार्यकाल होता है। करीब 50 साल तक सार्वजनिक तौर पर काम करने और दो बार उपराष्ट्रपति रहने के बाद जो बाइडन आखिरकार इस बार अमेरिका के राष्ट्रपति चुन लिए गए हैं।

इस बार का चुनाव अभियान कुछ ऐसा नहीं था जिससे कोई अटकलें लगाई जातीं। यह चुनाव कोरोना महामारी के दौर में हुआ है, जिसने अमेरिका को बुरी तरह प्रभावित किया है। साथ ही यह वह दौर है जब देश के भीतर सामाजिक उथल-पुथल दिख रही है। इस माहौल के बीच जो बाइडन, डोनाल्ड ट्रंप के रूप में एक ऐसे प्रतिद्वंद्वी के सामने खड़े थे जो पहले के राष्ट्रपति से पूरी तरह अलग रहे हैं, लेकिन राष्ट्रपति पद की तीसरी बार की अपनी दौड़ में बाइडन की टीम ने राजनैतिक चुनौतियों को पार करने का रास्ता तलाश ही लिया और आखिरकार बाइडन को उनकी मंजिल तक पहुंचा ही दिया।

कैसे जीते जो बाइडन

बाइडन ने अपने अभियान में टेलीविजन पर प्रसारित होने वाले अंतिम विज्ञान दिखाने शुरू किए। इनमें जो संदेश देखा गया वो बीते साल के उनके 'किक ऑफ अभियान' में था। अगस्त में नामांकन स्वीकृति भाषण में उन्होंने इसी संदेश की बात की। उन्होंने कहा कि यह चुनाव अमेरिका की आत्मा को बचाने के लिए एक लड़ाई है। उन्होंने इस चुनाव को बीते चार सालों में खराब हुई अर्थव्यवस्था को ठीक करने का राष्ट्रीय मौका कहा। इस स्लोगन के पीछे एक छोटा सा गणित का हिसाब-किताब था। बाइडन ने अपने राजनीतिक भाग्य पर इस तरह का दांव लगा दिया कि ट्रंप ध्रुवीकरण चाहते हैं। वो भडकाऊ बातें करते हैं, लेकिन अमेरिकी लोगों को शांत और स्थिर नेतृत्व चाहिए। कोरी ऐडिम्स 18 सालों से लोरिडा में रहती हैं। इस बार महामारी में पहली बार वोटिंग कर रही थीं। उनका कहना था कि ट्रंप के रवैये से मैं थक चुकी हूं।

इस बार ट्रंप नहीं डेमोक्रेट समर्थकों की यह आम अवधारणा थी कि बाइडन जीते तो कुछ सप्ताह राजनीति के बारे में सोचने से राहत मिलेगी। हालांकि यह पहले केवल एक मजाक था, लेकिन इसमें कहीं न कहीं थोड़ी सच्चाई भी छिपी थी। इस साल की शुरुआत में बाइडन के पास चुनावी अभियान चलाने के लिए अधिक पैसा नहीं था। उनकी जेब खाली थी, लेकिन फिर भी उन्होंने नुकसान उठाकर चुनाव अभियान शुरू करने का फैसला लिया, वो भी ट्रम्प के खिलाफ, जिन्होंने अपने राष्ट्रपति के कार्यकाल के दौरान अरबो डॉलर जुटाये थे। अप्रैल के बाद से बाइडन ने अपने चुनावी अभियान को फण्ड राइजिंग अभियान में तब्दील कर दिया और शायद ट्रम्प के चुनावी अभियान की लापरवाही के कारण उनसे कहीं अधिक पैसा भी जमा कर लिया।

अक्टूबर के आखिर तक बाइडन के पास ट्रम्प के अभियान के मुकाबले 14 करोड़ से अधिक धन था। उन्होंने हर महत्वपूर्ण राज्य को अधिक टीवी विज्ञापन दिए, जिसका प्रतिद्वंद्वी मुकाबला नहीं कर पाए। लेकिन पैसा ही सब कुछ नहीं है। चार साल पहले जब ट्रम्प कम पैसों से अपना अभियान चला रहे थे। उस वक्त हिलेरी क्लिंटन के पास अभियान के लिए पैसों की कोई कमी नहीं थी। साल 2020 में जब कोरोना महामारी के कारण एक राज्य से दूसरे राज्य में घूम-घूम कर अभियान चलाना संभव नहीं था तब अधिकतर अमेरिकी लोग टीवी देख रहे थे। इस वक्त बाइडन के विज्ञापन काम आये। वो घरों में बैठे वोटरों तक अपना संदेश आसानी से पहुंचा रहे थे। इसमें वह अपने अभियान को पूरा कर सके और टैक्सास, जॉर्जिया जैसे बड़े-बड़े राज्य में अधिक से अधिक लोगों तक पहुंचने में कामयाब हुए। वो रुढ़िवादी ऐरीजोना और बेहद कॉम्पीटीटिव जॉर्जिया में ट्रम्प को बड़ी टक्कर देने में सफल रहे।

किताबें

• **सफदर हाशमी**

किताबें करती हैं बातें
बीते जमानों की
दुनिया की, इंसानों की
आज की, कल की
एक-एक पल की
खुशियों की, गमों की
फूलों की, बमों की
जीत की, हार की
प्यार की, मार की
क्या तुम नहीं सुनोगे
इन किताबों की बातें?

किताबें कुछ कहना चाहती हैं
तुम्हारे पास रहना चाहती हैं
किताबों में चिड़ियां चहचहाती हैं
किताबों में खेतियां लहलहाती हैं
किताबों में झरने गुनगुनाते हैं
परियों के किस्से सुनाते हैं
किताबों में साइंस की आवाज है
किताबों का कितना बड़ा संसार है
किताबों में ज्ञान की भरमार है

क्या तुम इस संसार में
नहीं जाना चाहोगे?

किताबें कुछ कहना चाहती हैं
तुम्हारे पास रहना चाहती हैं।

रामलाल आनंद महाविद्यालय
(दिल्ली विश्वविद्यालय)
बेनितो जुआरेज मार्ग, नई दिल्ली-110067